परम पूज्य आचार्य श्री उमास्वामी विरचित
'तत्त्वार्थसूत्र' के तीसरे एवं चौथे अध्याय पर
विशेष प्रवचन

लोक - विज्ञान

(जैन भूगोल - खगोल)

प्रवचनकर्ता :
मुनि प्रणम्यसागर

कृति :
लोक विज्ञान

आशीर्वाद :
आचार्य श्री 108 विद्यासागर जी महाराज

प्रवचनकर्ता :
मुनि श्री 108 प्रणम्यसागर जी महाराज

संयोजन :
डॉ. श्रीचन्द्र जैन, रेवाड़ी
अजितप्रसाद जैन, रेवाड़ी

शब्द संयोजन :
श्रीमती नेहा जैन (ध.प. श्री अमित जैन), रेवाड़ी

आवृति : **1100**

मूल्य : **100/-**

पुण्यार्जक :
श्री तनिष्क जैन एवं अर्हम् जैन, जागृति एन्क्लेव, दिल्ली
श्रीमती अलका जैन, रोहतक
श्रीमती अंजलि राकेश जैन, विवेक विहार, दिल्ली
श्री संजीव कुमार जैन सुपुत्र श्री एन.के. जैन, सैक्टर-11, रोहिणी, दिल्ली

प्राप्ति स्थान :
शैलेन्द्र शाह, उज्जैन - 09425092483, 09406881001
आर्हत विद्या प्रकाशन, गोटेगांव - 09425837476
अजित प्रसाद जैन, जैन कम्प्यूटर्स, 112-एल, मॉडल टाउन, रेवाड़ी - 9896437271

प्रकाशक :
आचार्य अकलंक देव विद्या शोधालय समिति
109, शिवाजी पार्क, देवास रोड, उज्जैन
फोन : 2519071, 2518396
E-mail : sss.crop@yahoo.com

मुद्रक
अजय प्रैस, काठ मण्डी, रेवाड़ी-123401
(हरियाणा) - 9416150911

'तत्त्वार्थसूत्र' का तृतीय व चतुर्थ अध्याय

आद्यकथन

– डॉ0 श्रीचन्द्र जैन
रिटायर्ड प्रिंसिपल

परम तपोनिधि मुनिवर श्री प्रणम्यसागर जी महाराज ने प्रगल्भ प्रवचनों के माध्यम से 'तत्त्वार्थसूत्र' आगम के तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों में तीनों लोकों का सुष्ठु चित्रण किया है जो श्रोताओं/पाठकों के हृदय पर अनायास अंकित हो जाता है। वस्तुतः, मुनिश्री के प्रवचनों में विषय की प्ररूपणा, एक सफल सद्गुरु की भांति इतनी विशद, स्वच्छ व सबल उद्भासित हो जाती है कि बालबुद्धि (शिष्य) श्रोता भी उसकी सम्यक् जानकारी प्राप्त करने में सक्षम हो जाता है। बोलचाल की भाषा, जनसाधारण की पदावली, तत्कालीन सामाजिक उदाहरण विषय को जीवन्त बना देते हैं।

तृतीय अध्याय

अर्हंयोग प्रणेता मुनिवर ने तृतीय अध्याय को अधोलोक एवं मध्यलोक का जैन भूगोल (Jain Geography) कहकर पुकारा है।

अधोलोक (नरकलोक) – मुनिश्री ने अधोलोक की उद्गीरणा करते हुए बताया है कि चित्राभूमि (जिस पर हम रहते हैं) के अधोभाग के कुछ अन्तराल से नरकलोक प्रारम्भ होता है, जिसमें सात पृथ्वियाँ हैं जो एक दूसरे के नीचे क्रमशः स्थित हैं अर्थात् प्रथम पृथ्वी सर्वोपरि है, शेष पृथ्वियाँ क्रमशः निम्नतर स्थित होने से सप्तम पृथ्वी निम्नतम विद्यमान है। पुनरपि वे एक दूसरी पर आश्रित (सहारे पर) नहीं हैं, परन्तु प्रत्येक के उपरि व निम्न भाग में पर्याप्त अन्तराल (Gap) है। इन पृथ्वियों में 84 लाख बिल हैं जिनमें रहने वाले प्राणी नारकी कहे जाते हैं।

इन नरकों में एक ओर तो महाकष्टदायक प्राकृतिक वातावरण, क्षुधा–बुभुक्षा की प्रचण्ड व्याकुलता, शारीरिक असाध्य वेदना आदि रहती हैं तो दूसरी ओर, स्वभावतः परस्पर कलह व निरन्तर मारकाट आदि रहती है। इस दुर्दशा में भी असुरजाति के देव उन्हें परस्पर भिड़ाकर अग्नि में घी डालने का कार्य करते हैं। इतना कष्टप्रद जीवन होने पर भी उनकी अकालमृत्यु नहीं होती, बल्कि उन्हें पूर्ण आयु इसी प्रकार भोगनी पड़ती है। **मुनिश्री प्रणम्यसागर जी का कथन है कि कुव्यसन करने वालों को यह (नरक) सुरक्षित स्थान मिल जाता है, क्योंकि वहाँ कोई सगा–सम्बन्धी रिश्तेदार या कोई भगवान नहीं मिलेगा। अपने दुष्कर्मों का फल स्वयं भोगना पड़ेगा।**

मध्यमलोक – यह नरकलोक और स्वर्गलोक के मध्य में है जो प्राकृतिक सुषमा का आगार तथा मुक्ति का द्वार है। मुनिवर श्री प्रणम्यसागर जी के प्रवचनानुसार इस लोक में शुभ नामों से सुशोभित संख्यातीत द्वीप व समुद्र हैं। मानवजाति (आपका व हमारा) निवास स्थान जम्बू नामक द्वीप में है जिसके परिवृत्ताकार रूप में क्रमशः लवण समुद्र, धातकी खण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र व पुष्कर द्वीप आदि इस क्रम से मण्डित हैं – एक द्वीप – एक समुद्र – एक द्वीप – एक समुद्र – क्रमशः परस्पर परिधि में व्याप्त असंख्य द्वीप व समुद्र हैं जिनका विस्तार उत्तरोत्तर द्विगुणित–द्विगुणित है (जैसा कि चित्रांकित है।)

इन सभी के मध्य में जम्बूद्वीप है, जो प्रकृति की अनुपम कृति है जिसके महनीय समृद्धशाली भरतादि धर्मपरायण सप्तक्षेत्र हैं जिनको विभक्त करने वाले हिमवानादि छह मुख्य पर्वत पूर्व से पश्चिम तक दीवाल सदृश रूप में परिव्याप्त हैं। प्रत्येक पर्वत की प्राकृतिक छटा के अभिवृद्धिकारक अद्‌भुत, असाधारण पद्‌मादि छह वृहदाकार सरोवर हैं जो उत्तरोत्तर दुगुने आयामी हैं। इन महावैभवशाली प्रत्येक सरोवर की आभा में चार चाँद लगाने वाले क्रमशः पद्‌म–महापद्‌मादि सुरभिमय कमल हैं जो क्रमपूर्वक दुगुने–दुगुने विस्तारवाले हैं। प्रत्येक काल में क्रमपूर्वक – श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, नाम की देवियाँ हैं जो कमनीय कान्तमनोहरा होने के कारण अपने प्रियतमों के आकर्षण का केन्द्र बनी रहती हैं। इन्हीं वृहदाकार सरोवरों से निसृत गंगा–सिन्धु आदि नदियाँ भरतादि क्षेत्रों की पिपासा को शान्त करती हुई विविध वनस्पतियों व औषधियों की जन्मदातृ होकर प्रवाहित होती रहती हैं (जैसा कि चित्रांकित है)।

इसी संदर्भ में मुनिश्री ने यह भी स्पष्ट किया है कि भरत–ऐरावत–उभय क्षेत्रों में उत्सर्पिणी व अवसर्पिणी कालों से प्रभावित जीवों की आयु, शरीर, भोग, उपभाग आदि में वृद्धि व ह्रास अवश्यंभावी है। अन्य क्षेत्रों में यह परिवर्तन अपरिवर्तनीय है। मानवजाति आर्य और म्लेच्छ – दोनों ही रूपों में होकर भी उनकी अधिकतम गति 2½ द्वीपों (जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड, पुष्करार्द्धद्वीप) तक ही सीमित है। अग्रवर्ती द्वीपों व समुद्रों में उनकी सत्ता अपरिकल्पनीय है, जैसा कि सूत्रोल्लेखित है–

प्राङ्मानुषोत्तर मनुष्याः।

मुनिश्री ने कालक्रम कर्मभूमि व भोगभूमि के जीवों की आयु की तालिका निर्देशित करते हुए– पल्य, सागर, अन्तर्मुहूर्त, हुण्डावसर्पिणी आदि पारम्परिक शब्दों की सुगम व्याख्या की है तथा संदेश दिया है– यदि मानवजाति आत्मकल्याण चाहती है तो जम्बूद्वीप से मण्डित भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड में रहते हुए जिनेन्द्रदेव के शासन की पूर्णतः परिपालना करें।

चतुर्थ अध्याय

परम पूज्य अर्हंयोग प्रणेता श्री प्रणम्यसागर जी महाराज ने 'तत्त्वार्थ सूत्र' आगम के चतुर्थ अध्याय को 'भूगोल–विज्ञान' अथवा 'जैन खगोल' (Jain Astronomy) की संज्ञा प्रदान की है जो सामान्यतः 'ऊर्ध्वलोक' अभिहित है। जहाँ के जीवों का 'देव/देवता' नाम प्रचलित है। आगमानुसार इनकी चार Category हैं– भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, वैमानिक। मुनिप्रवर के एतद्–विषयक प्रवचन में निम्नांकित बिन्दु ध्यातव्य* हैं :–

1. पूज्य मुनीश्वर ने आलोच्य अध्याय के प्रत्येक सूत्र का शब्दार्थ एतावत् स्पष्ट किया है कि संस्कृतवाङ्गमय के अनभिज्ञों को भी सूत्रों का अक्षरशः ज्ञान हो जाता है।

2. निकाय, स्थिति, विकल्प, इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, प्रवीचार, अप्रवीचार, ज्योतिष्क, वैमानिक, पल्य, प्रदक्षिणा इत्यादि जैनागम के पारिभाषिक शब्दों का नूतन निर्वचन करके मुनिश्री ने उन्हें सुबोधगम्य बनाया है जो उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का द्योतक है।

3. प्रसंगवशात् निम्नाङ्कित शब्दों का पारस्परिक अन्तर भी रेखाङ्कित किया है। जैसे–पर्याप्तक अवस्था–अपर्याप्तक अवस्था, कल्पोपपन्ना–कल्पातीत, परा–अपरा, अभिमान–स्वाभिमान, कषाय–नौकषाय इत्यादि।

4. कल्प, प्रवीचार आदि श्लिष्ट शब्दों को यथास्थान व्याख्यायित किया है जिससे श्रोताओं/पाठकों को सहजगम्य हो सके कि किस शब्द का कौन–सा अर्थ किस प्रसंग में औचित्यपूर्ण है।

5. सूत्रों के भावों को अधिकाधिक सुगम्य बनाने के लिए आवश्यकतानुसार शंका–समाधान एवं प्रश्नोत्तर प्रस्तुत करके विषय को नितान्त विशद और सार्थक बना दिया है जिससे तत्सम्बन्धी जिज्ञासा स्वतः शान्त हो जाती है। यह मुनिवर के वैदुष्य का साक्षात् प्रमाण है।

6. आचार्य श्री पूज्यपाद द्वारा प्रणीत 'सर्वार्थसिद्धि' तथा अन्यात्य उच्चस्तरीय जैन ग्रन्थों के संस्कृतोद्धरणों को उद्धृत करके सूत्रों के समुचित भावों को परिपुष्ट किया गया है।

7. देव–विषयक लेश्याओं की प्ररूपणा में मुनिश्री ने 'लेश्या' शब्द का अर्थ–'भावों का परिणाम' करते हुए कहा है–'लेश्या का सम्बन्ध परिणामों से है। सम्यग्दृष्टि–मिथ्यादृष्टि, धर्म–अधर्म आदि से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।'

   षड्–विध लेश्याओं की शाब्दिक और आर्थिक योजना की अभिव्यक्ति में मुनिश्रेष्ठ ने परम्परागत फलीभूत वृक्ष का निदर्शन अत्यन्त विशद तथा विशिष्ट रूप में उल्लेखित करके

अधुनातम मानवीय जीवन में घटित सद्–असद् घटनाओं को चित्रित करते हुए लेश्याओं को रूपायित किया है। साथ ही, श्रावकों को कर्त्तव्यपरायणता की ओर उन्मुख होने का संदेश दिया है– 'हमें प्रत्येक वस्तु (संग्रह) की सीमा बना लेनी चाहिए जिससे हमारे परिणाम (लेश्याएँ) शुभ हों। यही जीवन की प्रथम प्राथमिकता है।

8. मुनिश्री ने 'प्रवीचार' शब्द की विविधमुखेन प्ररूपणा करते हुए सुबुद्ध श्रावक को निम्नरूपेण परिभाषित किया है–

'धर्म क्या है?अधर्म क्या है?सुख क्या है?दुःख क्या है? उचित क्या है?अनुचित क्या है?– इन सभी का विवेक रखने वाला सुधी श्रावक कहलाता है।'

9. व्यन्तर देवों के संदर्भ में मुनिराज श्री की अवधारणा है कि भूत, पिशाच, राक्षस आदि भी व्यन्तर–निकाय के देव हैं, वे कुरूप, वीभत्स या भयावह नहीं होते, बल्कि बहुत सुन्दर होते हैं, क्योंकि वे मूलतः देव हैं। इनसे वे ही भयभीत होते हैं जो मानसिक रूप में अशक्त हैं या धर्म से विचलित हैं। यदि किसी को कदाचित् भूत, प्रेत, चुड़ैल, डाकिनी, शाकिनी आदि कोई दृष्टिपथ में आ जावे तो अंधविश्वासमुक्त होकर संज्ञान कर लेना चाहिए कि यह व्यन्तरदेव का कृत्रिम या विक्रियात्मक रूप है या आपके सम्यक्त्व की परीक्षा है। परन्तु जो जैनेन्द्र देव के परम भक्त हैं, णमोकार मंत्र में विश्वास रखते हैं, उनका ये बाल भी बाँका नहीं करते। श्रद्धापूर्वक उच्चरित जैनेन्द्रदेव का नाम ही महामंत्र है जिससे सभी अनिष्टों का अनिष्ट होता है। जैसा कि स्तोत्रों से ज्ञात है –

देवाधिदेव–शुभ–नाम–पवित्रमंत्रो,
व्याहन्त्यनिष्टमखिलं किमु विस्मयन्ति।
–श्री वर्धमान स्तोत्र, 8

* * *

त्वन्नाममन्त्रमनिशं मनुजं स्मन्तः
सद्यः स्वयं विगतबन्धभया भवन्ति।।
–भक्तामर स्तोत्र, 46

10. मुनिवर श्री प्रणम्यसागर जी अधुनातम विज्ञान–ज्ञान (Scientific knowledge) के सम्यक्वेत्ता हैं। पगे–पगे उन्होंने जैन धर्म और विज्ञान के संतुलन से यह सिद्ध कर दिया है कि जैन धर्म की मान्यताओं के समक्ष वैज्ञानिक अन्वेषणाएँ–अपूर्ण, निम्न व असमर्थ–सी रह जाती हैं। इस दिशा में दो प्रमाण इसी अध्याय से उद्धृत हैं–

(क) ज्योतिष्क देवों में –सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र व ताराणगण है जो पृथ्वी के 790–900 योजन के उच्चीयस्तर पर अवस्थित हैं जहाँ पर मानव की गति कदापि संभावनीय नहीं है।

वर्तमान में वैज्ञानिक अनुसंधान–शिरोमणि अमेरिका देश के तथाकथित नासा संस्थान द्वारा जो मंगलग्रह व चन्द्रमा पर पहुँचने का दावा किया गया है वह सर्वथा मिथ्या है। यद्यपि रूस देश (Russia) ने अमेरिका के उपर्युक्त कथन को सप्रमाण नकारा है, परन्तु वह अविश्वसनीय होकर रह गया है।

'तत्त्वार्थसूत्र' के परिप्रेक्ष्य में मुनिवर का कथन है–

'मनुष्य (ग्रहों पर पहुँचने की) चेष्टा कर रहा है, परन्तु वहाँ कभी नहीं पहुँच सकता। ज्योतिषी देव उसे अपने आलयों में नहीं आने देंगे और न मुनष्य की इतनी सामर्थ्य है कि वह ज्योतिषी देवों के विमानों में अपने रहने का स्थान बना सकें।'

(ख) भवनवासी देवों का आवास–स्थल अधोलोक है जो पृथ्वी के निम्नस्तरीय भाग में एक हजार योजन (बीस लाख कोस) जाने पर प्रारम्भ होता है। जहाँ पर विज्ञान के कदम रखना, सर्वथा अपरिकल्पनीय है।

वस्तुतः जैनधर्म, केवलज्ञानी भगवान जिनेन्द्रदेव की दिव्यदृष्टि द्वारा साक्षात् गोचर है जबकि विज्ञान, मानवीय ससीम शक्ति पर आधारित है। इसी कारण जैनधर्म की सत्यता को विज्ञान कैसे नकार सकता है।

11. आधुनिक समाज में यह धारणा घर कर गई है कि ग्रहों की अशुभ छाया मानव–जीवन पर आच्छादित होकर अनिष्टकारी प्रभाव छोड़ देती है जिसके प्रत्यावर्तन के लिए श्रावकगण भगवान–विशेष की निर्धारित दिन में पूजा करके अमंगल का परिमार्जन करते हैं।

परन्तु परम मुनिवर इस दिशा में श्रावकों को उद्बोधित करते हैं कि आज यह अज्ञानता परिव्याप्त है कि इस ग्रह की पूजा करने से इस ग्रह का प्रभाव दूर हो जाएगा। जैसे–20वें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रतनाथ भगवान का पूजन शनिवार को करने से शनिग्रह का घातक प्रभाव परिसमाप्त हो जाएगा। क्योंकि शनिग्रह का रंग श्याम है तथा मुनिसुव्रतनाथ भगवान कृष्ण वर्ण के है। –इस पक्ष का निराकरण करते हुए मुनिश्री श्रावकों को उद्घोषित करते हैं–'कोई भी भगवान किसी निश्चित ग्रह की बाधा को दूर करने वाले नहीं हैं। इतना अवश्य है कि जिनेन्द्र भगवान की पूजा से पाप मन्द पड़ सकते हैं, बाधाएँ न्यून हो सकती हैं, परन्तु कतिपय कर्मों का

फल अवश्य भोगना पड़ता है। मुनिश्री ने पुनः कहा है–'वस्तुतः छाया ग्रहों की नहीं, पापकर्मों की पड़ती है। अतः आपको अपने मन से मिथ्यात्व को हटा देना चाहिए कि नवग्रह की पूजा करने से नवग्रहों की छाया क्षीण हो जाती है।

12. आज की वैज्ञानिक युगीन चकाचौंध में भारतीयों में अपने बच्चों को विदेश भेजने की होड़–सी लगी हुई है जिससे उनका status बढ़ता है, जीवन सफल होता है तथा सुरुचिपूर्ण धन की उपलब्धि होती है।

परन्तु मुनिश्री श्रावकों की इस विचार–धारा को अनौचित्यपूर्ण मानकर मानो खिन्नता व्यक्त करते हैं कि जैन बच्चों के विदेश जाने में, न जाने उनके कितने जन्म भ्रष्ट हो जाएंगे। क्योंकि वहां की विकृत–संस्कृति, जाति–पांति–विहीन संस्कार, धर्मरहित आचरण, जिनवाणी की अज्ञता और अमर्यादित चर्या में जैनत्व की सुगन्ध कैसे रह सकती है?उनकी मान्यता है कि 'अहिंसा परमो धर्मः – का पथ, संयमित आचरण, जिनवाणी माँ का आँचल, णमोकार मन्त्र का कवच, मुक्तिपदायिनी सत्यं–शिवं–सुन्दरं की दिशा–यदि कहीं दर्शनीय है तो मात्र भारत वसुन्धरा पर ही सुलभ है।

जैनागमानुरागी मुनिवर प्रणम्यसागर जी ने प्रस्तुत प्रवचन के आलोक में पुनः–पुनः श्रावकों के मार्ग को प्रशस्त किया है तथा उनसे अपेक्षा की है–

'सभी के पास व्यर्थ चर्चा करने का समय रहता है लेकिन जिनवाणी को पढ़ने का समय नहीं होता। यह हमारा प्रमाद है और इसी प्रमाद से हमारा समय व्यतीत हो जाता है। इस प्रमाद को आप कम करोगे तो बहुत आनन्द आएगा।'

परम पूज्य आचार्य श्री उमास्वामी विरचित 'तत्त्वार्थसूत्र' के तीसरे एवं चौथे अध्याय पर विशेष प्रवचन

अथ तृतीयोऽध्यायः

मोक्षमार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्मभूभृताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद्गुण–लब्धये।।

प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में जीव के ज्ञान एवं भाव आदि का वर्णन है। इस तृतीय अध्याय में हमें यह ज्ञात होगा कि यह जीव कहाँ–कहाँ रहता है?जीव इस संसार में कहाँ–कहाँ पर रहते हैं?इस संसार की भौगोलिक स्थिति तत्त्वार्थसूत्र के तृतीय अध्याय पढ़ने से हमें समझ जाएगी। इसे हम जैन भूगोल (Jain Geography) भी कह सकते हैं। इस अध्याय में मुख्य–रूप से अधोलोक एवं मध्यलोक का वर्णन है। सर्वप्रथम अधोलोक का वर्णन है तत्पश्चात् इस मध्यलोक का जहाँ पर हम रहते हैं उसका वर्णन है। इस पृथ्वी पर क्या–क्या ऐसी वस्तुएं हैं, जिन्हें हम देख नहीं पाते हैं लेकिन उनका अस्तित्व है। उसका वर्णन किया जाएगा। यहाँ अधोलोक का वर्णन किया जा रहा है जहाँ पर नारकी निवास करते हैं। उनकी व्यवस्था किस प्रकार की बनी हुई है?वे कैसे रहते हैं?उनकी आयु कितनी होती है? ये सभी जानकारियाँ हमें इसको पढ़ने से ज्ञात होंगी।

प्रथम सूत्र में अधोलोक **में सात पृथ्वियों (नरकों)** का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं–

रत्न–शर्करा–बालुका–पंक–धूम–तमो–महातमः–प्रभा–भूमयो
घनाम्बु–वाताकाश–प्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः।।1।।

अर्थ– रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा ये सात भूमियाँ घनाम्बु , वात और आकाश के आधार पर स्थित हैं और क्रम से नीचे–नीचे हैं। (रत्न आदि शब्दों का द्वन्द्वसमास करके प्रत्येक शब्द के साथ प्रभा शब्द जोड़ा गया है।) प्रभा का अर्थ है–चमक या कान्ति।

ये सात पृथ्वियों के नाम हैं। अधोऽधः का अर्थ होता है नीचे–नीचे अर्थात् क्रम–क्रम से एक पृथ्वी के नीचे दूसरी पृथ्वी, दूसरी पृथ्वी के नीचे तीसरी पृथ्वी होती है। इस प्रकार सात पृथ्वियाँ स्थित हैं। इन पृथ्वियों के बीच–बीच में असंख्यात योजनों का खाली स्थान भी होता है। इन पृथ्वियों में बिल बने रहते हैं जिनमें नारकी निवास करते हैं। पहली पृथ्वी का नाम है रत्नप्रभा, दूसरी शर्कराप्रभा, तीसरी बालुकाप्रभा, चौथी पंकप्रभा, पांचवी धूमप्रभा, छठवीं तमःप्रभा और सातवीं पृथ्वी का नाम महातमःप्रभा है। ये भूमियाँ किस आधार पर स्थित है?इसका वर्णन स्वयं आचार्य करते हैं। तीन वातवलय होते हैं। वातवलय का अर्थ होता है–जिनके अंदर (वात) तेज हवा होती है और वे (वलय)

अधो लोक

कहाँ है	आकार	ऊँचाई	लम्बाई	चौड़ाई	घनफल	निवास
मेरु की जड़ से नीचे	आधा मृदंग	7 राजू सर्वत्र	7 राजू सर्वत्र	4 राजू औसत	196 घनराजू	एकेन्द्रिय नारकी भवनवासी व्यंतर देव

तल में = 7 राजू
ऊपर = 1 राजू

औसत $= \frac{7+1}{2} = \frac{8}{2} = 4$ राजू

वात वलय

लोक
⇩ का आधार
घनोदधि वातवलय = ठोस वायु+जल का घेरा = वाष्प
⇩ का आधार
घन वातवलय = ठोस वायु का घेरा = मोटी हवा
⇩ का आधार
तनु वातवलय = पतली वायु का घेरा = पतली हवा
⇩ का आधार
आकाश – स्वयं अपने आधार पर स्थित

घूमते भी रहते हैं और उनके ऊपर ही ये बड़ी–बड़ी पृथ्वियाँ टिकी रहती हैं। ये वातवलय तीन प्रकार के होते हैं। पहला घनोदधिवातवलय, दूसरा घनवातवलय और तीसरा तनुवातवलय होता है। ये सब पृथ्वियाँ घनोदधिवातवलय पर टिकी रहती हैं। घनोदधिवातवलय घनवातवलय के आधार से स्थित है। घनवातवलय तनुवातवलय के आश्रय से स्थित है। तनुवातवलय आकाश के आश्रय से स्थित है और आकाश स्वयं अपने आधार से स्थित है। ये तीनों वातवलय बीस–बीस हजार योजन मोटे हैं। एक उदाहरण के माध्यम से हम इसे इस प्रकार से समझ सकते हैं–जैसे साइकिल होती है उसमें

नरकों का वर्णन

पृथिवियों के सार्थक नाम	रौढ़िक नाम	पथिवियों की मोटाई (योजन में)	बिलों की संख्या	पाथड़े (पलट)	अवधिज्ञान	
					उत्कृष्ट क्षेत्र	उत्कृष्ट काल
रत्न प्रभा	धम्मा	1,80,000	30 लाख	13	1 योजन	भिन्न अन्तर्मुहूर्त
शर्करा प्रभा	वंशा	32,000	25 लाख	11	3½ योजन	यथा
बालुका प्रभा	मेघा	28,000	15 लाख	9	3 कोस	योग्य
पंक प्रभा	अंजना	24,000	10 लाख	7	2½ कोस	
धूम प्रभा	अरिष्ठा	20,000	3 लाख	5	2 कोस	अन्तर्मुहूर्त
तम प्रभा	मधवी	16,000	5 कम 1 लाख	3	1½ कोस	
महातमः प्रभा	माधवी	8,000	5	1	1 कोस	अन्तर्मुहूर्त

टायर और ट्यूब होते हैं। उस ट्यूब के ऊपर पूरी साइकिल का वजन रहता है। उस ट्यूब के कारण ही हम उस साइकिल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते हैं। ऐसे ही ये वायु के बड़े–बड़े ट्यूब हैं इन्हीं के ऊपर ये पृथ्वियां टिकी रहती हैं। इन पृथ्वियों की संख्या और उनके गुणनाम पहले ही बताये जा चुके हैं। इन भूमियों में सर्वत्र नारकी नहीं रहते हैं। इन भूमियों में बिल बने रहते हैं जिनमें नारकी निवास करते हैं।

त्रिलोकसार आदि ग्रन्थों में इनके क्रमशः धम्मा, वंशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी, माघवी–ये सात रौढ़िक नाम भी बताये गये हैं। शब्दार्थ रहित रूढ़िवश प्रसिद्ध हुए नाम रौढ़िक हैं। किस भूमि में कितने बिल बने हुए हैं?इसका वर्णन आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं।

पृथ्वियों में बिलों की संख्या के विषय में अचार्य बताते हैं–

तासु त्रिंशत्पंचविंशति पंचदश–दश–त्रि–पंचोनैक–नरक–शतसहस्राणि–पंच चैव यथाक्रमम् ।।2।।

अर्थ– उन पृथ्वियों में क्रम से तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दश लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और पाँच बिल हैं। इन सात नरक भूमियों में जो रहने के स्थान है उन्हें बिल कहते हैं। शतसहस्राणि–लाख–सभी संख्याओं के साथ जोड़ा गया है।

तासु का अर्थ है–उन पृथ्वियों में। पहली पृथ्वी में तीस लाख बिल होते हैं। दूसरी पृथ्वी में

पच्चीस लाख बिल हैं, तीसरी पृथ्वी में पन्द्रह लाख बिल हैं, चौथी पृथ्वी में दश लाख बिल हैं, पाँचवी पृथ्वी में तीन लाख बिल हैं, छठवीं पृथ्वी में पाँच कम एक लाख बिल हैं, सातवीं पृथ्वी में पाँच बिल हैं। यह भी कह सकते हैं कि नरक हैं। इन बिलों को ही नरक कहा जाता है। इन सभी का योग करने पर इनकी संख्या चौरासी लाख हो जाती है। ये सब व्यवस्थित रूप से बने हुए होते हैं। कुछ बिल ऐसे होते हैं जो पूरी पृथ्वी के मध्य में होते हैं। उन्हें इन्द्रक बिल कहते हैं। कुछ बिल ऐसे होते हैं जो दिशाओं में बने रहते हैं, उन्हें श्रेणीबद्ध बिल कहते हैं। कुछ बिल ऐसे भी होते हैं जो यत्र–तत्र बने हुए रहते हैं। उन्हें प्रकीर्णक बिल कहते हैं। सभी इन्द्रक बिल संख्यात योजन चौड़े, सभी श्रेणीबद्ध बिल असंख्यात योजन चौड़े और प्रकीर्णक बिलों में से कुछ संख्यात योजन और कुछ असंख्यात योजन चौड़े हैं। इस तरह से तीन प्रकार के बिल होते हैं। इन बिलों में नारकी जीव रहते हैं। पाप कर्म के उदय से उन्हें क्या–क्या फल मिलते हैं?इसका वर्णन आगे एक सूत्र के माध्यम से किया जा रहा है। क्योंकि नारकियों के दुःखों का वर्णन करने की सामर्थ्य किसी में भी नहीं होती है। हम चाहे कितना भी उनके दुःखों का वर्णन कर लें लेकिन उनके दुःखों का वर्णन कभी किया ही नहीं जा सकता है। फिर भी, एक सूत्र के माध्यम से इसका दिग्दर्शन करवाया जा रहा है।

नारकियों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं–

नारका नित्याशुभतरलेश्या–परिणाम–देह–वेदना–विक्रियाः।।3।।

अर्थ– नारकी जीवों के निरन्तर अशुभतर लेश्या, परिणाम, शरीर, वेदना और विक्रिया होती हैं।

आचार्य कहते हैं कि जो नारकी होते हैं वे नित्य अर्थात् निरन्तर **अशुभतर लेश्या** वाले होते हैं। अशुभ लेश्या को पाप बहुल लेश्या भी कहते हैं। जिनके कारण परिणामों में हमेशा अशुभता ही बनी रहती है उसे अशुभ लेश्या कहते हैं। नरकों में नियम से नारकी जीवों के अशुभतर लेश्या ही होती है। अर्थात् उनके परिणाम कभी भी शुभ नहीं हो सकते हैं। जितने अशुभ से अशुभ परिणाम हो सकते हैं वे सब नारकी जीवों के पास होते हैं। जितनी भी हिंसा कषाय आदि के अशुभ से अशुभ परिणाम होते हैं वे सभी नारकी जीवों के होते हैं। भाव यह है कि नीचे–नीचे नरकों में अशुभ से अधिक अशुभ अर्थात् अशुभतर लेश्या होती हैं।

अशुभतर लेश्या के बाद अशुभतर परिणाम का क्रम आता है। परिणाम का तात्पर्य स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द इन सभी को परिणाम के रूप में यहाँ पर लिया गया है। अर्थात् पाँचों ही इन्द्रियों के परिणाम के रूप में यहाँ पर लिया गया है। अर्थात् पाँचों ही इन्द्रियों के परिणाम वहाँ पर अशुभतर होते हैं। 'अशुभतर' शब्द को आप सभी के साथ लगाते रहना।

स्पर्श परिणाम–वहाँ पर जो जमीन होती है उसका स्पर्श इतना तीक्ष्ण और विषैला होता है कि इसका वर्णन छहढाला की पंक्तियों में भी आता है–'तहाँ भूमि परसत दुख इसो, बिच्छू सहस डसे नहिं तिसो ' इसका अर्थ है कि हजारों बिच्छू आपको एक साथ डंक मारे, उससे जो कष्ट होगा उससे

सात नरक	भाव लेश्या	शरीर की ऊँचाई (उत्कृष्ट)	उत्कृष्ट आयु (सागर)	लगातार उसी नरक में उत्पत्ति	किस नरक से निकल कर क्या नहीं होता है?	किस जीव की कौन से नरक तक जाने की शक्ति है
प्रथम नरक	जघन्य कापोत	7 धनुष 3 हाथ 6 अंगुल	1	8 बार		असैनी पंचेन्द्रिय
द्वितीय नरक	मध्यम कापोत	15 धनुष 2 हाथ 12 अंगुल	3	7 बार		गोह, सरीसर्प
तृतीय नरक	उत्कृष्ट कापोत, जघन्य नील	31 धनुष 1 हाथ	7	6 बार		पक्षी
चतुर्थ नरक	मध्यम नील	62 धनुष 2 हाथ	10	5 बार	तीर्थंकर	सर्प
पंचम नरक	उत्कृष्ट नील, जघन्य कृष्ण	125 धनुष	17	4 बार	चरम शरीरी	सिंह
षष्ठ नरक	मध्यम कृष्ण	250 धनुष	22	3 बार	भावलिंगी मुनि	स्त्री
सप्तम नरक	उत्कृष्ट कृष्ण	500 धनुष	33	2 बार	2–5 गुण स्थानवर्ती	पुरुष, मत्स्य

भी कई गुना कष्ट वहाँ की भूमि का स्पर्श करने से होता है। वहाँ की भूमि का स्पर्श अत्यन्त तीक्ष्ण और कठोर है। यह स्पर्श परिणाम कहलाता है।

रस परिणाम– वहाँ पर जो भी नारकी जीव खाते हैं उसका वमन कर देते हैं। खाने के लिए तो वहाँ कुछ भी नहीं होता है। वहाँ केवल मिट्टी होती है। वह मिट्टी भी इतनी दुर्गन्धित होती है कि भूख के कारण जैसे ही वे उसको अपने मुख में रखते हैं उसके बेस्वाद एवं दुर्गंध के कारण वे वमन कर देते हैं और भूख के कारण चिल्लाते हैं। इस तरह रस का परिणाम भी वहाँ पर अशुभतर होता है।

गंध परिणाम– गंध के विषय में आचार्य लिखते हैं कि उन नरकों में इतनी दुर्गंध आती है कि कल्पना करो–पहली पृथ्वी की मिट्टी का एक कण लाकर इस मध्यलोक में रख दिया जाए तो एक कोस तक इतनी दुर्गंध फैल जाएगी कि यहाँ के जीव जीवित ही नहीं रह सकते हैं। इस तरह गंध का परिणाम भी वहाँ पर अशुभतर है।

रूप परिणाम– वहाँ का रूप परिणाम इतना बीभत्स और कुरूप होता है जिसकी कल्पना भी आप नहीं कर सकते हैं। उन नरकों में मात्र अंधेरा होता है। इतना अंधेरा होने पर भी वे एक–दूसरे को कैसे देख लेते हैं?उत्तर मिलता है कि जिस प्रकार एक बिल्ली दूसरी बिल्ली को, एक उल्लू दूसरे उल्लू को अंधेरे में देख लेता है उसी तरह एक नारकी दूसरे नारकी को अंधेरे में देख लेता है। यह वीभत्स रूप भी वहाँ पर अशुभ का ही परिणमन है। इनका रूप इतना घिनौना होता है जिसकी कल्पना भी भयावह है।

शब्द परिणमन– शब्द भी वहाँ पर ऐसे होते हैं जो कर्णप्रिय नहीं होते हैं। उनके शब्द इतने कटु होते हैं कि अगर कोई अन्य सुन ले तो उसके अन्दर भी हिंसा के परिणाम उत्पन्न हो जाते हैं। वहाँ सिर्फ गालियाँ और तू–तड़ाक की भाषा का ही प्रयोग किया जाता है। जितने भी अशुभतर वचन होते हैं वे सभी शब्द नरकों में प्रयुक्त किये जाते हैं। इस तरह ये सभी अशुभतर परिणाम उन नारकियों के होते हैं।

देह परिणाम– देह परिणाम के बारे में आचार्य कहते हैं कि जितना शुभ शरीर देवों का होता है उतना ही अशुभ शरीर उन नारकियों का होता है। उनका शरीर वैक्रियक होता है। उस वैक्रियक शरीर के कारण उनका कभी अकाल मरण नहीं होता है। उनके शरीर में रोग, मल–मूत्र, पीब इतने भरे होते हैं जिनसे सतत दुर्गन्ध ही आती है। उस वैक्रियक दुर्गन्धमय शरीर की आप कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। उनकी देह अत्यन्त अशुभतर रूप वाली होती है। नारकियों को सभी तरह के रोग होते हैं। सप्तम नरक के नारकियों को 5 करोड़ अड़सठ लाख निन्यानवे हजार पाँच सौ चौरासी रोग होते हैं। ये सभी कष्ट उस आत्मा को वहाँ जाकर भोगने पड़ते हैं जो यहाँ पर तीव्र पाप कर्म करके मरण को प्राप्त होते हैं। जब वह जीव नरक में जाता है तो वहाँ उसे इस दुःख से बचाने वाला कोई नहीं होता है। भले ही, उस आत्मा को कितना भी कष्ट हो, वह मरना चाहे तो भी वह मर नहीं सकता।

क्योंकि वैक्रियिक शरीर होने के कारण उसके तिल–तिल बराबर खण्ड हो जाए तो भी वह पुनः जुड़ जाता है। जैसे पारे की बूंदों को अलग–अलग कर दिया जाए तो वह पुनः एक होकर मिल जाती हैं। उसी प्रकार उन नारकियों का शरीर भी खण्ड–खण्ड होकर पुनः जुड़ जाता है। उन्हें चाहे कितना भी कष्ट हो, फिर भी उन्हें उस कष्ट को भोगना ही पड़ता है।

अशुभतर वेदना– उन नारकियों की वेदना भी अुशभतर ही होती है। वहाँ के वातावरण के कारण उनकी वेदना भी अशुभतर होती है। क्योंकि कुछ नरक ऐसे हैं जहाँ बहुत अधिक उष्णता है और कुछ नरक ऐसे हैं जहाँ बहुत अधिक शीत है। ऊपर के नरक बहुत अधिक उष्ण हैं और नीचे के नरकों में बहुत अधिक शीत (ठंडक) है। उष्णता भी वहाँ इतनी अधिक है कि सुमेरू पर्वत के बराबर कोई लोहे का गोला उस नरक में डाल दो तो वह पृथ्वी पर पहुँचते–पहुँचते उष्णता के कारण पिघल जाता है। जैसे आग में कोई चीज डाल दी जाए तो वह गल जाती है। उसी तरह उस नरक की स्थिति होती है। जब वही गोला छठवें नर्क में डाला जाता है तो वहाँ की ठण्ड के कारण बर्फ की तरह जम जाता है। आप कल्पना कर सकते हैं कि जब वह गोला उस नरक में जाकर पिघल और जम सकता है तो उस शरीर की वहाँ क्या स्थिति होती होगी?लेकिन यह आत्मा वहाँ इन कष्टों को पराश्रित होकर भोगता रहता है। वह आत्मा वहाँ से निकलकर इन सभी कष्टों को भूल जाता है। ऐसी कोई आत्मा नहीं है जिसने इन कष्टों को न भोगा हो। अगर आत्मा ऐसे ही पाप करता रहता है, सप्त व्यसनों में लिप्त रहता है तो आगे भी उसे इन नरकों के दुःख नियम से मिलेंगे ही। भूख–प्यास की वेदना भी वहाँ कम नहीं होती है। वहाँ इतनी भूख लगती है कि तीन लोक का अनाज भी खा लिया जाए तो भी भूख शान्त नहीं होती है। फिर भी वहाँ खाने के लिए एक दाना भी नहीं मिलता है। वह भूख के कारण जैसे ही उस दुर्गन्धित मिट्टी को मुँह में रखता है तो उसका मुँह जल जाता है, तब वह और भी ज्यादा तड़पने लगता है। वहाँ पर पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती। वह सागरों पर्यन्त तड़पता हुआ काल को व्यतीत कर देता है। इतनी भयंकर वेदना नरकों में रहती है।

अशुभतर विक्रिया– विक्रिया दो प्रकार की होती हैं। प्रथक् व अप्रथक्। नारकी प्रथक् विक्रिया नहीं कर सकते। अपृथक् का अर्थ होता है कि अपने ही शरीर को वे किसी दूसरे का घात करने के लिए तलवार बना लेते हैं, अपने ही शरीर को भाला बना लेते हैं, बरछी बना लेते हैं। इन सभी का रूप वह नारकी अपनी विक्रिया के माध्यम से बना लेता है। ऐसी अशुभ विक्रिया भी नारकी लोग करते हैं। अपने उस वैक्रियक शरीर के माध्यम से वे शुभ विक्रिया नहीं कर सकते। ऐसे अशुभतर वैक्रियक परिणाम उन नारकी जीवों के होते हैं।

इस प्रकार ये सभी अशुभतर परिणाम उन नारकी जीवों के होते हैं। इन वेदनाओं के साथ–साथ उन्हें अन्य वेदनाएं भी मिलती हैं जिसका वर्णन आचार्य आगे के सूत्र में कर रहे हैं।

नारकी जीवों के दुखों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं–

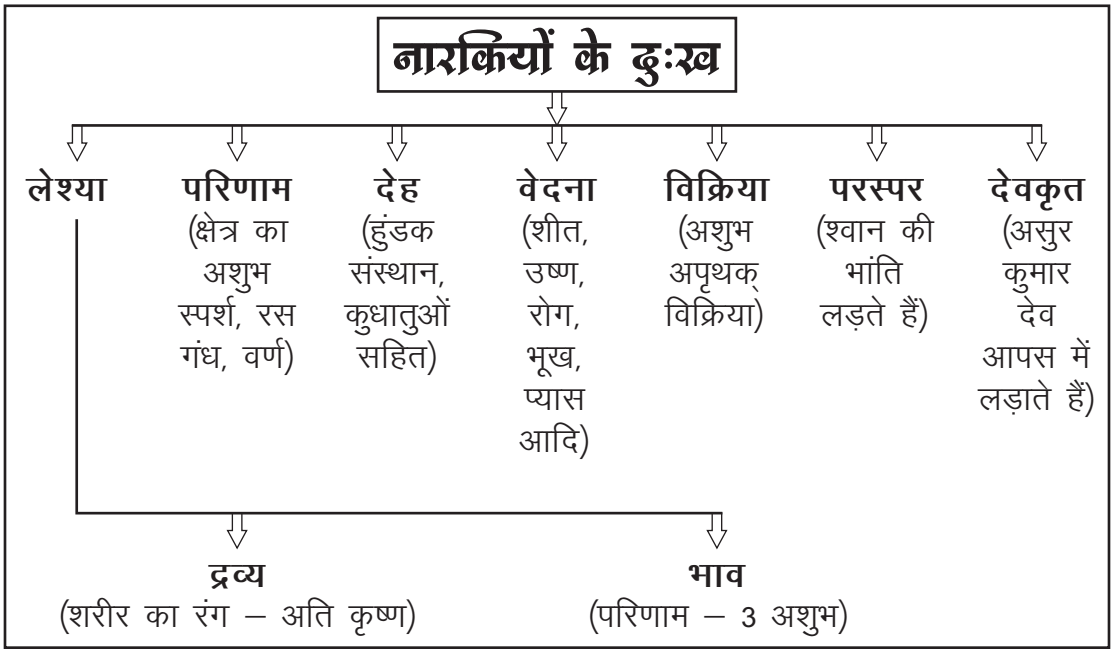

परस्परोदीरितदुःखाः ।।4।।

अर्थ– नारकी जीव आपस में ही एक दूसरे को दुःख देते हैं।

आचार्य नरकों के दुःखों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नरकों में पहले ही उन्हें भूख–प्यास, शीत–उष्ण एवं अन्य असहनीय वेदनाओं को सहन करना पड़ता है ऊपर से उनके दुःखों की उदीरणा की जाती है। अर्थात् एक नारकी परस्पर दूसरे नारकी को देखकर केवल उदीरित दुखाः–दुःख पहुँचाने का ही भाव रखता है। वहाँ एक नारकी दूसरे नारकी को मारता है, काटता है, चिल्लाता है। उसके अतिरिक्त, वहाँ अन्य कोई काम नहीं है। वहाँ निरन्तर कलह, मारकाट होती रहती है। एक नारकी दूसरे नारकी को मारने के लिए दौड़ता है। वह अगर वहाँ से भाग भी जाए और कोई अन्य नारकी उस बीच आ जाए तो उसका व्यवहार उस नारकी के साथ भी वही रहता है। जैसे एक मौहल्ले के कुत्ते को देखकर दूसरे मौहल्ले का कुत्ता भौंकता है। उसका पहला काम भौंकना है। वह भौंकेगा, उसके पीछे दौड़ेगा उसको मारने का प्रयास करेगा। इसी तरह की स्थिति वहाँ पर एक–दूसरे को दुःख देने की बनी रहती है। यह भी वहाँ पर दुःख है। एक तो वातावरण का दुःख, शरीर का दुःख, भूख–प्यास का दुःख उसके अतिरिक्त उसे और भी दुःख मिलते है। जिसका वर्णन आचार्य आगे के सूत्र में करने जा रहे हैं।

नारकियों के अन्य प्रकार के दुःखों के विषय में आचार्य कहते हैं–

नारकियों द्वारा परस्पर दिए जाने वाले दुःख

1	गर्म लोहमय रस पिलाना,
2.	अग्निरूप लाल तप्त लोहे के खम्भों से आलिंगन कराना,
3.	कूट – शाल्मलि वृक्ष के ऊपर चढ़ाना – उतारना,
4.	लोहमय घनों से पीटना,
5.	वसूले से छीलना,
6.	चमड़ी उतारना,
7.	गर्म तेल से नहलाना,
8.	लोहे के गर्म कड़ाहों में पकाना,
9.	भाड़ में सेकना,
10.	घानी में पेलना,
11.	शूली पर चढ़ाना,
12.	भाले से बींधना,
13.	करोंत से चीरना,
14.	अंगारों पर लिटाना,
15.	गर्म रेत पर चलाना,
16.	वैतरणी में स्नान कराना,
17.	तलवार जैसे पत्तों के वन में प्रवेश कराना,
18.	व्याघ्र, रीछ, सिंह, श्वान, सियार, सियारनी, बिलाव, नेवला, सर्प, कौवा, गीध, चमगादड़, उल्लू, बाज, आदि बनकर एक–दूसरे को अनेक प्रकार के दुःख देना,
19.	दूर से देख क्रोध करना,
20.	पास आने पर मारना,
21.	क्रोध से भरे वचन कहना,
22.	विक्रिया से शस्त्र बनकर मारना, काटना, छेदना, भेदना आदि।

संक्लिष्टाऽसुरोदीरित–दुःखाश्च प्राक् चतुर्थ्याः।। 5।।

अर्थ– चौथी नरक भूमि से पहले अर्थात् पहली तीन नरक भूमियों तक संक्लिष्ट परिणामधारी असुरकुमार देव भी नारकियों को दुःख पहुँचाते हैं।

'प्राक् चतुर्थ्याः' का अर्थ है चौथी पृथ्वी से पहले–पहले। अर्थात् तीसरी पृथ्वी तक संक्लिष्ट

परिणाम धारण करने वाले अम्बावरीष जाति के असुरकुमार देव जाते हैं। वे वहाँ जाकर आपस में एक नारकी को दूसरे नारकी के विरुद्ध लड़ाने और भिड़ाने का कार्य करते हैं और उसमें आनन्द लेते हैं। जैसे यहाँ पर दुष्ट स्वभावी लोग एक दूसरे को आपस में भिड़ाकर मजा लेते हैं वैसे ही नरकों में असुरकुमार देव एक नारकी को दूसरे नारकी को लड़ा भिड़ाकर आनन्दित होते हैं। असुरकुमार देव मात्र तीसरी पृथ्वी तक ही जा सकते हैं। असुरकुमार देव उन नारकियों को आपस में किसी भी बात को लेकर भिड़ा देते है। कहते हैं–देखो, यह पूर्व जन्म में तेरी माँ थी और इसने तेरी आँखें फोड़ी थी। उसकी माँ ने पूर्वजन्म में उसको काजल लगाने के लिए उसकी आँखों में ऊँगली डाली थी लेकिन नारकियों में कुअवधिज्ञान होता है। वे अपने कुअवधिज्ञान से वैसा ही सोचते हैं। वे भी उसकी आँखें फोड़ने के लिए तलवार , चाकू इत्यादि उठाते हैं। इस तरह वे भिड़ाकर उन नारकियों को आपस में लड़ाते हैं। असुर कुमार देव कहता है–देख, यह पूर्वजन्म में तेरा भाई था। इसने तुझे चाकू से मारा था। वह चाकू उसके भाई ने सब्जी संवारने के लिए या किसी अन्य कार्य के लिए दिया था लेकिन वहाँ के कुअवधिज्ञान में उसे वैसा ही दिखाई देता है और वह उसको भी चाकू से मारने का प्रयास करता है। इस तरह वहाँ पर जितने भी कष्ट एक–दूसरे को दिये जाते हैं वे नारकी आपस में एक दूसरे को देते रहते हैं। यहाँ जो जीव आपस में एक दूसरे को भिड़ाकर आनन्द लेते हैं वे भी मरकर संक्लिष्ट अर्थात् कटु परिणामों से इसी तरह के देव बनते हैं और पाप कर्मों का बंध करते हैं।

उदाहरणार्थ यहाँ पर भी बैलों की लड़ाई होती है, भैंसों की लड़ाई होती है। उन लड़ाइयों को आप टी.वी. पर भी देखते हो और उसमें आनन्दित भी होते हो। इस प्रकार की लड़ाइयों को देखकर आप इस तरह के पाप–कर्मों का बंध कर लेते हो जिससे आपको इस तरह की पर्याय प्राप्त हो जाती है। आपको इस तरह की लड़ाइयों को कभी भी नहीं देखना चाहिए। क्योंकि इस तरह की लड़ाइयों को देखने से भी पाप कर्म का बंध होता है। इस तरह की लड़ाइयों में कभी–कभी बैल–भैंसे मर भी जाते हैं। कुछ व्यक्ति जुआँ भी लगाते है और पाप कर्मों का आस्रव इन लड़ाइयों के माध्यम से कर लेते हैं।

इस तरह असुरकुमार देव तीसरी पृथ्वी तक जाकर नारकियों के दुःखों की और अधिक उदीरणा कर देते हैं। असुरकुमार देव स्वयं भी नारकियों को मारते हैं, कष्ट देते हैं। इन नारकियों की आयु कितनी होती है?इसका वर्णन आगे के सूत्र में किया जा रहा है।

नरकों में उत्कृष्ट आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

तेष्वेकत्रिसप्तदश–सप्तदश–द्वाविंशति–त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमा
सत्वानां परा स्थितिः।।6।।

अर्थ– नरकों के नारकी जीवों की उत्कृष्ट स्थिति क्रम से एक सागर, तीन सागर, सात सागर, दस सागर, सत्रह सागर, बाईस सागर और तैंतीस सागर है।

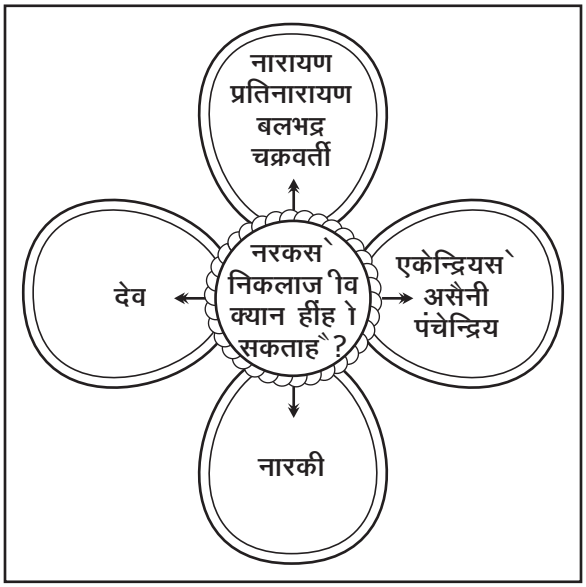

नरकों की परास्थिति–उत्कृष्ट आयु का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं कि रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले नारकियों की उत्कृष्ट आयु एक सागर की है और जघन्य आयु दस हजार वर्षों की होती है। सागर समय को मापने का एक मात्रक होता है। यहाँ अभी हम इतना ही समझ लें कि असंख्यात वर्षों का एक सागर होता है। ऐसे एक सागर प्रमाण रत्नप्रभा पृथ्वी के नारकियों की उत्कृष्ट आयु होती है। पहले नरक की उत्कृष्ट आयु दूसरे नरक की जघन्य आयु हो जाती है। अर्थात् दूसरे नरक में एक सागर की जघन्य आयु एवं तीन सागर की उत्कृष्ट आयु होती है। इसके बाद बालुकाप्रभा पृथ्वी में तीन सागर की जघन्य आयु और सात सागर की उत्कृष्ट आयु होती है। चौथी पंकप्रभा पृथ्वी में सात सागर की जघन्य आयु एवं दस सागर की उत्कृष्ट आयु हो जाती है। पाँचवी धूमप्रभा पृथ्वी में दस सागर की जघन्य आयु और सतरह सागर की उत्कृष्ट आयु होती है। तमःप्रभा पृथ्वी में सतरह सागर की जघन्य आयु एवं बाईस सागर की उत्कृष्ट आयु होती है। महातमःप्रभा पृथ्वी में बाईस सागर की जघन्य आयु एवं तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु होती है। इसलिए इन व्यसनों को करते समय यह ध्यान में आ जाना चाहिए कि हमें इन नरकों में तैंतीस सागर के लिए जाना पड़ सकता है। जितने भी व्यसन करने वाले, पाप कर्मों को करने वाले व्यक्ति है उन्हें इन नरकों में इतनी आयु पर्यन्त दुःख भोगने पड़ सकते हैं। व्यसन करने वालों को यह सुरक्षित स्थान मिलता है। सुरक्षित स्थान यहाँ इसलिए कहा गया है, क्योंकि वहाँ कोई सगा–सम्बन्धी, आपके रिश्तेदार या कोई भगवान आपको वहाँ नहीं मिलेंगे। वहाँ पर आपके कर्मों का फल आपको ही प्राप्त होगा।

ज्ञातव्य है कि–इन नरकों में कौन से जीव उत्पन्न होते हैं?

मद्यपायी, मांसभक्षी, यज्ञ में बलि देने वाले, असत्यवादी, परद्रव्य का हरण करने वाले, परस्त्री लम्पटी, तीव्र लोभी रात्रि में भोजन करने वाले, स्त्री, बालक, वृद्ध और ऋषि के साथ विश्वासघात करने वाले, जिनधर्म के निन्दक, रौद्रध्यान करने वाले तथा इसी प्रकार के अन्य पाप करने वाले जीव नरकों में पैदा होते हैं। तीव्र मिथ्यात्वी, बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह के धारक मनुष्य, तिर्यंच भी नरकों में पैदा होते हैं।

प्रश्न– सातों नरकों में जीवों का निरन्तर गमन कितनी बार हो सकता है?

उत्तर—प्रथम नरक में 8 बार, द्वितीय में 7 बार, तृतीय में 6 बार, चतुर्थ में 5 बार, पंचम में 4 बार, षष्ठम में 3 बार और सप्तम नरक में दो बार जीवों का निरन्तर गमन हो सकता है।

प्रश्न— कौन—कौन से जीव किस नरक में जा सकते हैं?

उत्तर—असंज्ञी प्रथम नरक तक ही जा सकता है। सरीसर्प दूसरे नरक तक जाते हैं। पक्षी तीसरे नरक तक जाते हैं। भुजंग चौथे नरक तक जाते हैं। सिंह पाँचवे नरक तक जाते हैं। स्त्रियां छठे नरक तक जाती हैं तथा मगरमच्छ और मानव सातवें नरक तक जाते हैं।

प्रश्न— सातों नरकों से आकर जीव कौन—कौन हो सकते हैं?

उत्तर—1. सप्तम नरक से निकला हुआ नारकी तिर्यंच गति (क्रूर पंचेन्द्रिय पशु) में ही जन्म लेता है।

2. छठे नरक से निकला नारकी मनुष्य हो सकता है। परन्तु देशव्रती नहीं बन सकता, सम्यग्दृष्टि बन सकता है।

3. पंचम नरक से निकला जीव मनुष्य भव प्राप्त कर महाव्रती बन सकता है परन्तु उस भव से मोक्ष नहीं जा सकता।

4. चतुर्थ नरक से निकालकर कोई प्राणी महाव्रती बनकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। परन्तु तीर्थंकर नहीं हो सकता।

5. प्रथम, द्वितीय, तृतीय नरक से निकले नारकी जीव तीर्थंकर भी हो सकते हैं और उसी भव से मोक्ष भी जा सकते हैं।

प्रश्न— जो महात्मा नरक से निकलकर तीर्थंकर होने वाला है उसकी वहाँ क्या स्थिति है?

उत्तर—वैमानिक देव लोग भक्तिवश छह मास पहले से उनके उपसर्ग दूर कर देते हैं। उनके चारों ओर एक परकोटा बना देते हैं। जिससे वह जीव अन्य नारकियों से मारकाट करने से बच जाता है।

यहाँ नारकियों का वर्णन पूर्ण होता है।

आगे के सूत्रों में हमें इस मध्यलोक का वर्णन पढ़ने को मिलेगा। जिस मध्यलोक में हम सभी निवास करते हैं।

मध्यलोक का वर्णन करते हुए आचार्य बताते हैं—

जम्बूद्वीप—लवणोदादयः शुभनामानो द्वीपसमुद्राः।।7।।

अर्थ— (मध्यलोक में) जम्बूद्वीप और लवण समुद्र आदि शुभ नाम वाले अनेक (असंख्यात) द्वीप समुद्र हैं। लवणोद+आदयः अर्थात् लवणोद समुद्र आदि। खारे जल वाला होने से इस समुद्र को

'लवणोद' समुद्र भी कहते हैं।

इस सूत्र में आचार्य मध्यलोक का वर्णन करते हुए बताते हैं कि हम जिस द्वीप में बैठे हुए हैं उसका नाम जम्बूद्वीप है। जम्बूद्वीप पहला द्वीप है। इस मध्यलोक में जम्बूद्वीप और लवण समुद्र आदि शुभ नाम वाले अनेक (असंख्यात) द्वीप और समुद्र हैं। सबसे पहले जम्बूद्वीप उसके बाद लवण समुद्र। लवण समुद्र के बाद धातकीखंड द्वीप उसके बाद कालोदधि समुद्र, उसके बाद पुष्करवर द्वीप, फिर उसके बाद पुष्पकरवर समुद्र है। इस तरह एक द्वीप एक समुद्र, एक द्वीप एक समुद्र, ऐसे शुभ नाम वाले असंख्यात द्वीप एवं समुद्र इस मध्यलोक में हैं। अर्थात् इस मध्यलोक में असंख्यात ही द्वीप हैं और असंख्यात ही समुद्र हैं।

द्वीपों और समुद्रों के विस्तार व आकार का वर्णन करते हुए आचार्य बताते हैं–

द्वि–र्द्वि–र्विष्कम्भाः पूर्व पूर्व–परिक्षेपिणो वलयाकृतयः।।8।।

अर्थ– प्रत्येक द्वीप व समुद्र दूने–दूने विस्तार वाले, पहले–पहले द्वीप समुद्र को घेरे हुए तथा चूड़ी के समान आकार वाले हैं।

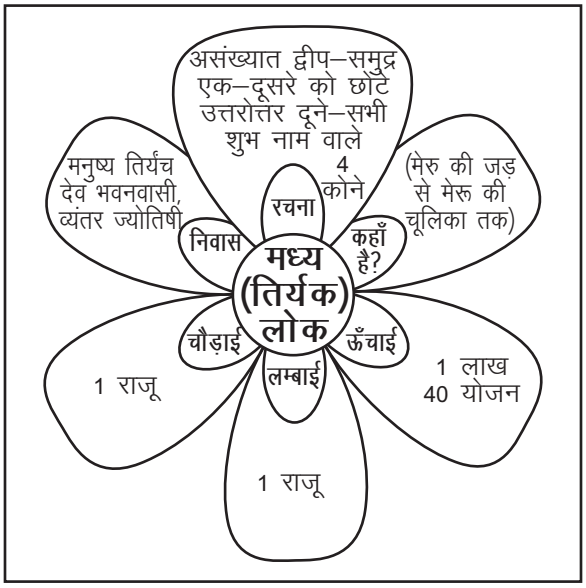

इन सभी द्वीपों और समुद्रों का आकार बताते हुए आचार्य कहते हैं कि ये द्वीप एवं समुद्र वलयाकृत अर्थात् चूड़ी के समान गोल है। ये सभी 'द्वि–द्विर्विष्कम्भाः' अर्थात् दुगुने–दुगुने विस्तार वाले होते चले जाते हैं। जैसे जम्बूद्वीप का व्यास एक लाख योजन है तो लवण समुद्र का व्यास दो लाख योजन है। इसके बाद जो धातकीखंड द्वीप है उसका विस्तार चार लाख योजन है। इसी तरह कालोदधि समुद्र का विस्तार आठ लाख योजन है। इस तरह दुगने–दुगने विस्तार वाले असंख्यात द्वीप एवं समुद्र इस मध्यलोक में हैं।

जम्बूद्वीप का विस्तार व आकार का वर्णन करते हुए आचार्य बताते हैं–

तन्मध्ये मेरुनाभिर्वृत्तो योजन–शतसहस्र विष्कम्भो जम्बूद्वीपः।।9।।

अर्थ– उन सब द्वीप–समुद्रों के बीच में सुदर्शन मेरु रूप नाभि से युक्त, थाली के समान गोल एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है।

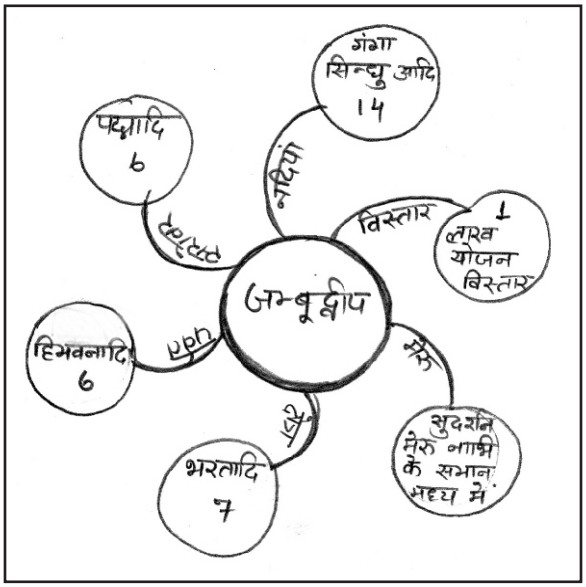

आचार्य इस सूत्र में जम्बूद्वीप के विषय में बताते हुए कहते हैं कि जितने भी द्वीप एवं समुद्र हैं उनके बीचों बीच जम्बूद्वीप है और उसी जम्बूद्वीप के मध्य में सुमेरु पर्वत है। वह सुमेरु पर्वत कैसा है? तो आचार्य कहते हैं वह नाभि के समान मध्य में है। जैसे नाभि शरीर के मध्य में होती है उसी तरह यह सुमेरू पर्वत भी इन द्वीप एवं समुद्रों के मध्य में है। इसकी ऊँचाई एक लाख योजन है। हमें समझ लेना चाहिए कि इन द्वीप और समुद्रों के मध्य में जम्बूद्वीप है और जम्बूद्वीप के मध्य मेरू या सुमेरू पर्वत है।

सुमेरू पर्वत का संक्षिप्त वर्णन–

जम्बूद्वीप के ठीक मध्य में एक लाख चालीस योजन ऊँचा सुमेरू पर्वत है। इसमें से एक हजार योजन जमीन में नींव है। निन्यानवे हजार योजन समतल से चूलिका तक है और अन्त में चालीस योजन की चोटी है। प्रारम्भ में जमीन पर मेरु पर्वत का व्यास दस हजार योजन है। ऊपर क्रम से घटता गया है। सुमेरू पर्वत के तीन काण्ड या भाग हैं। पहला जमीन से 500 योजन ऊपर का, दूसरा 62500 योजन का और तीसरा 36000 योजन का है। प्रत्येक काण्ड के अन्त में 500 योजन की एक–एक कटनी है। एक जमीन पर और तीन इन तीन कटनियों पर इस प्रकार यह चार वनों से सुशोभित है। इनके क्रम से भद्रसाल, नन्दन, सौमनस और पाण्डुक वन ये नाम है। वनों के चारों ओर चार दिशाओं के चार–चार अर्थात् 16 चैत्यालय हैं। पाण्डुक वन में चारों विदिशाओं में चार पाण्डुक शिलाएँ है जिन पर उस–उस दिशा के क्षेत्रों के उत्पन्न हुए तीर्थंकरों का जन्माभिषेक होता है।

चार पाण्डुक शिलाओं का संक्षिप्त वर्णन–

1. ईशान दिशा में पाण्डुक शिला है, यह स्वर्णमय है यहाँ भरत क्षेत्र के बाल तीर्थंकर का जन्माभिषेक होता है।

2. आग्नेय दिशा में पाण्डुकंबला शिला है, यह रजतमयी है। यहाँ पश्चिम विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर का जन्माभिषेक होता है।

3. नैऋत्य दिशा में रक्तशिला है यह स्वर्गमयी है, यहाँ ऐरावत क्षेत्र के तीर्थंकर का जन्माभिषेक होता है।

4. वायव्य दिशा में रक्तकंबला शिला है, यह लाल मणिमयी है, यहाँ पूर्व विदेह क्षेत्र के तीर्थंकर का जन्माभिषेक होता है।

इस जम्बूद्वीप के सात क्षेत्रों के विषय में बताते हुए आचार्य लिखते हैं–

भरत–हैमवत–हरि–विदेह–रम्यक–हैरण्यवतैरावत–वर्षाः क्षेत्राणि।।10।।

अर्थ– जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत ये सात क्षेत्र हैं। 'वर्ष' का अर्थ है–भूखण्ड। अर्थात् भरत आदि भूखण्ड हैं जो क्षेत्र हैं।

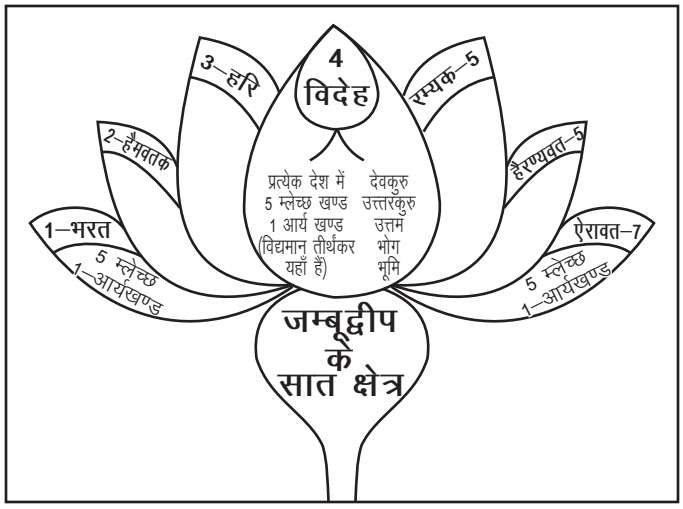

इस जम्बूद्वीप में सात क्षेत्र हैं अर्थात् सात स्थान हैं जहाँ पर लोग निवास करते हैं। पहला भरत क्षेत्र है जहाँ पर आप निवास करते हैं। जब आप शांतिधारा करते हो या देखते हो तब आप सुनते होंगे– 'जम्बूद्वीपे भरतक्षेत्रे आर्यखण्डे'। तो वह भरत क्षेत्र यही है जहाँ आप निवास करते हैं। पहला भरतक्षेत्र, दूसरा हैमवत, तीसरा हरि, चौथा विदेह, पाँचवाँ रम्यक, छठवाँ हैरण्यवत और सातवाँ ऐरावत है। इस तरह से ये सात क्षेत्र इस जम्बूद्वीप में है। भरत क्षेत्र जम्बूद्वीप के दक्षिणी भाग में स्थित है। इन क्षेत्रों की जोड़ी भी बन जाती है। जैसे पहला भरत क्षेत्र और अन्तिम ऐरावत क्षेत्र है। जैसी व्यवस्था भरत क्षेत्र में है वैसी ही व्यवस्था ऐरावत क्षेत्र में है। यहाँ भी कर्मभूमि है और वहाँ भी कर्मभूमि है। यहाँ पर तीर्थंकर होंगे और वहाँ पर भी तीर्थंकर होंगे। यहाँ पर दसलक्षण पर्व चलेंगे वहाँ पर भी दसलक्षण पर्व का आयोजन होगा। इस तरह से ये सभी समानताएँ भरत क्षेत्र और ऐरावत क्षेत्र में होती हैं।

इसी तरह हैमवत क्षेत्र और हैरण्यवत क्षेत्र का जोड़ा बन जाता है। जो व्यवस्था हैमवत क्षेत्र में है वही व्यवस्था हैरण्यवत क्षेत्र में भी है। यहाँ जघन्य भोगभूमि है वहाँ भी जघन्य भोगभूमि है। इसी तरह हरि क्षेत्र और रम्यक क्षेत्र का जोड़ा है। यहाँ दोनों क्षेत्रों में मध्यम भोग भूमि की शास्वत व्यवस्था है। इन दोनों क्षेत्रों की व्यवस्था भी समान हैं। मध्य में एक विदेह क्षेत्र है जो सुमेरू पर्वत के चारों ओर है। इन क्षेत्रों का क्या प्रयोजन है?इसका वर्णन आगे के सूत्रों में किया जाएगा।

ज्ञातव्य है कि–चक्रवर्ती की आधी विजय विजयार्ध पर्वत तक हो जाती है। इसी कारण इस पर्वत को विजयार्ध कहते हैं। विजयार्ध पर्वत के उत्तर में और हिमवान पर्वत के दक्षिण में गंगा–सिन्धु

नदियों के बीच में स्थित मलेच्छ खण्ड के मध्य में 100 योजन ऊँचा, 100 योजन चौड़ा, गोलाकार, स्वर्णमय, एक वृषभगिरि नामक पर्वत है। यह पर्वत पृथ्वी पर 100 योजन चौड़ा होने पर भी ऊपर अन्त में 50 योजन चौड़ा है। यह भूतकालीन चक्रवर्तियों के नामों से परिपूर्ण है। इस पर्वत पर चक्रवर्ती गर्वरहित हो कांकणी रत्न द्वारा किसी एक नाम को मिटाकर अपनी प्रशस्ति लिखते हैं।

विजयार्ध पर्वत पर व मलेच्छ खण्डों में चतुर्थकाल के आदि से अन्त सदृश काल रहता है। विजयार्ध पर्वतों पर रहने वाले मनुष्य विद्याओं को धारण करने के कारण विद्याधर कहलाते है। भोगभूमि के जीवों का सामान्य स्वरुप इस प्रकार है–

	उत्तम	मध्यम	जघन्य
आयु	तीन पल्य	दो पल्य	एक पल्य
ऊँचाई	तीन कोश	दो कोश	एक कोश
वर्ण	उगते सूर्य के समान	श्वेत वर्ण	प्रियंगु पुष्प सम श्याम
भोजन	3 दिन पश्चात्	2 दिन पश्चात्	1 दिन पश्चात्
	बेर के बराबर	बेहड़ा के बराबर	आँवला के बराबर
यौवनपूर्ण होना	21 दिन	35 दिन	49 दिन

भोगभूमि में सभी युगल 10 कोश ऊँचे व दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त हुए भोगों को भोगते हैं। उन कल्पवृक्षों के नाम हैं। 1. मद्यांग, 2. वादित्रांग 3. भूषणांग, 4. माल्यांग, 5. ज्योतिरांग 6. दीपांग 7. गृहांग 8. भोजनांग 9. भाजनांग 10. वस्त्रांग।

आयु समाप्त होने से 9 मास पूर्व गर्भ रहता है व युगल सन्तान को जन्म देकर मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। स्त्री को जंभाई आती है व पुरुष को छींक आती है और मरण को प्राप्त होने पर शरीर कपूर की भाँति विलीन हो जाता है।

क्षेत्र–विभाजन करने वाले छः पर्वतों के विषय में आचार्य बताते हैं–

तद्विविभाजिनः पूर्वापरायता हिमवन्महाहिमवन्निषध–नील, रूक्मि–शिखरिणो वर्षधरपर्वताः।।11।।

अर्थ– सात क्षेत्रों का विभाग करने वाले पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हिमवन्, महाहिमवन्, निषध, नील, रूक्मी और शिखरी, ये छह कुलाचल पर्वत हैं।

आचार्य इन सात क्षेत्रों का विभाजन किस प्रकार से है, वर्णन करते हुए लिखते हैं कि छह पर्वत हैं जिनके द्वारा इस जम्बूद्वीप का सात क्षेत्रों में विभाजन हो जाता है। इन पर्वतों को वर्षधर या

कुलाचल पर्वत कहा जाता है। इन पर्वतों के कारण ही भरत आदि क्षेत्रों का विभाजन होता है। अतः इन्हें वर्षधर पर्वत कहा जाता है। ये पर्वत 'पूर्वापरायता'–पूर्व+अपर+आयता अर्थात् पूर्व से पश्चिम तक लम्बे फैले हुए हैं। उन पर्वतों के नाम इस प्रकार है। पहला हिमवन्, दूसरा महाहिमवन्, तीसरा निषध, चौथा नील, पाँचवाँ रूक्मी और छठवाँ शिखरी– ये सभी नाम हैं। ये सभी इन क्षेत्रों को धारण करने वाले अनादि–निधन कुलाचल पर्वत हैं।

इन पर्वतों के वर्णों के विषय में आचार्य लिखते हैं–

हेमार्जुन–तपनीय–वैडूर्य–रजत–हेममयाः।।12।।

अर्थ– ऊपर कहे गए पर्वत क्रम से स्वर्ण, चाँदी, तपाया हुआ सोना, वैडूर्य (नील) मणि, चाँदी और स्वर्ण के समान रंग वाले हैं। हेम–स्वर्ण, अर्जुन–श्वेत, तपनीय–मध्यान्ह के सूर्य के समान, वैडूर्य–वैडूर्य नामक नीलमणि, रजत–चाँदी, हेम–स्वर्ण (के रंग से) मयाः–युक्त हैं।

पर्वत/कुलाचल के नाम एवं रंग

हिमवन (सोना)	महाहिमवन (चाँदी)	निषध (तपाया हुआ सोना)	नील (वैडूर्य नील मणि)	रुक्मि (चाँदी)	शिखरी (सोना)

आचार्य पर्वतों के वर्णों के विषय में लिखते हैं कि पहले हिमवन् पर्वत का रंग हेम अर्थात् सोने के समान है। दूसरे पर्वत का रंग अर्जुन अर्थात् चाँदी के समान श्वेत है। तीसरे पर्वत का रंग तपाये हुए सोने के समान है। चौथे पर्वत का रंग वैडूर्यमणि (नीलमणि) के समान है। पाँचवें पर्वत का रंग पुनः रजत (चाँदी) के समान श्वेत है और छठवें पर्वत का रंग भी पुनः हेम अर्थात् सोने के समान है। इस तरह से ये पर्वत इन रंगों के हैं या यह भी कह सकते हैं कि ये पर्वत इन्हीं से बने हुए हैं।

शंका– मया का अर्थ क्या है?

समाधान– मया का अर्थ होता है ये पर्वत उसी की तरह हैं या उसी के बने हुए हैं। अर्थात् नीलमणि के ही बने हुए है, चाँदी के ही बने हुए हैं।

कुलाचलों के आकार के विषय में आचार्य लिखते हैं–

मणिविचित्रपार्श्वा उपरि मूले च तुल्यविस्ताराः।।13।।

अर्थ– ऊपर कहे गये पर्वत कई तरह की मणियों से चित्र–विचित्र तटों से युक्त हैं तथा ऊपर, मध्य और मूल में एक समान विस्तार वाले हैं।

उन पर्वतों की रचना कितनी सुंदर बनी हुई है, इसका वर्णन आचार्य इस सूत्र में कर रहे हैं। जब कभी आप देव बनो तो आप इन रचनाओं को देख सकते हैं। हो सकता है आपको जातिस्मरण हो जाए कि हमने किसी मुनि महाराज द्वारा तत्त्वार्थसूत्र पढ़ा था और उसमें छह कुलाचलों के विषय में बताया गया था। उन पर्वतों का वर्णन बहुत ही सुंदर किया था। हमें भी उन पर्वतों को जाकर देखना चाहिए। वे पर्वत अत्यन्त सुंदर हैं। जो सोने, चांदी एवं मणियों से निर्मित है। उनके पार्श्व भाग मणियों से जड़े हुए हैं या मणियों से सुसज्जित हैं। जैसे आप सोने की अंगूठी पर पुखराज लगा लेते हो, हीरा लगा लेते हो। इसी तरह ये पर्वत भी मणियों से जड़े हुए हैं। वे पर्वत कैसे हैं?आचार्य बताते हैं कि नीचे, मध्य और ऊपर में उनका विस्तार समान हैं। अर्थात् दीवाल के समान वे पर्वत नीचे से ऊपर तक समान आकार में खड़े हुए हैं।

उन पर्वतों पर जो सरोवर बने हुए हैं उनके विषय में आचार्य लिखते हैं–

पद्म–महापद्म–तिगिंछ–केसरि–महापुण्डरीक–पुण्डरीका ह्रदास्तेषामुपरि।।14।।

अर्थ– उन पर्वतों के ऊपर क्रम से पद्म, महापद्म, तिगिंछ, केसरी, महापुण्डरीक और पुण्डरीक नाम के सरोवर हैं।

उन पर्वतों के ऊपर सरोवर बने हुए हैं। वे तालाब छोटे–मोटे ताल–तलैया नहीं होते हैं। इनको ह्रद कहा जाता है। ह्रद अर्थात् बहुत बड़ा तालाब। ये तालाब इतने बड़े होते हैं कि इनके आगे सागर भी छोटा पड़ जाता है। उन तालाबों के नाम क्रमशः आचार्य बताते हैं। पहले हिमवन् पर्वत पर पद्म तालाब है। दूसरे महाहिमवन् पर्वत पर महापद्म तालाब है। तीसरे

सरोवर

क्र.	नाम	लम्बाई (योजन में)	चौड़ाई (योजन में)	गहराई (योजन में)	कमल व्यास (योजन में)	देवी निवास
1.	पद्म	1,000 (40 लाख मील)	500 (20 लाख मील)	10 (40,000 मील)	1 (4,000 मील)	श्री
2.	महापद्म	2,000	1,000	20	2	ह्री
3.	तिगिंछ	4,000	2,000	40	4	धृति
4.	केशरी	4,000	2,000	40	4	कीर्ति
5.	महा पुण्डरीक	2,000	1,000	20	2	बुद्धि
6.	पुण्डरीक	1,000	500	10	1	लक्ष्मी
इन सरोवरों में रहने वाली देवियों की आयु एक पल्य की है। वे सामानिक एवं पारिषद जाति के देवों के साथ रहती हैं, जिनके छोटे कमल हैं						

निषध पर्वत पर तिगिंछ, चौथे नील पर्वत पर केसरी, पाँचवे रूक्मी पर्वत पर महापुण्डरीक और छठवें शिखरी पर्वत पर पुण्डरीक नाम के तालाब हैं।

उन सरोवरों का विस्तार बताते हुए आचार्य आगे के सूत्र में लिखते हैं।

प्रथमो योजनसहस्रायामस्तदर्द्धविष्कम्भो ह्रदः।।15।।

अर्थ– प्रथम सरोवर पूर्व पश्चिम एक हजार योजन लम्बा और पाँच सौ योजन चौड़ा है।

पहले तालाब का विस्तार बताते हुए आचार्य इस सूत्र में लिखते हैं– वह सरोवर एक हजार योजन लम्बा है। योजन दो प्रकार के होते हैं। एक छोटा योजन होता है और एक बड़ा योजन होता है। छोटे योजन में चार कोस होते हैं और बड़ा योजन दो हजार कोस का होता है। आप विचार कर सकते हैं कि वह तालाब कितना बड़ा होगा?वह तालाब योजन+सहस्र+आयामः–एक हजार योजन लम्बा है और तद्+अर्ध+विष्कम्भः–उससे आधा चौड़ा हैं, अर्थात् पाँच सौ योजन चौड़ा है। ये महायोजन प्रमाण वाले हैं अर्थात् दो हजार कोस का एक योजन होता है। अब आप इसका गुणा करके देख लेना। अगर आपके मस्तिष्क में यह बैठ जाए तो बहुत अच्छा है और अगर नहीं बैठे तो हाथ जोड़कर श्रद्धान करना–हे भगवन्! जो आपने कहा है वह सत्य ही कहा होगा। क्योंकि यह केवली, सर्वज्ञ भगवान की वाणी है। यह आपको अभी नहीं दिखेगा जब आप देवगति को प्राप्त करोगे तब आपको श्रद्धान होगा कि हाँ केवली भगवान ने जो बताया है वह सत्य ही है। अगर आप इसी तरह से तत्वार्थसूत्र पढ़ेंगे तो आपको नरक आयु का बंध तो होगा नहीं और आप इन पापों से बचकर देवगति को ही प्राप्त करोगे।

प्रथम सरोवर की गहराई कितनी है इसका वर्णन आचार्य अगले सूत्र में कर रहे हैं–

दशयोजनावगाहः।।16।।

अर्थ– प्रथम सरोवर दस योजन गहरा है।

इन तालाबों की गहराई के विषय में आचार्य इस सूत्र में लिखते हैं– प्रथम सरोवर दस योजन अवगाह–गहरा है। अर्थात् 20000 कोश गहरा है।

प्रथम सरोवर के मध्य में क्या है ?आचार्य बताते हैं–

तन्मध्ये योजनं पुष्करम्।।17।।

अर्थ– उस (प्रथम) पद्म सरोवर के मध्य में एक योजन विस्तार वाला कमल है।

उन तालाबों के मध्य में पुष्कर अर्थात् कमल होता है। वह कमल एक योजन का होता है। वह रचना कितनी सुंदर होगी आप इसकी कल्पना कर सकते हैं। वस्तुतः देखा जाए तो आज जिसे

हम हिमालय कहते हैं यह हिमालय का नाम वर्तमान में छोटे रूप में हिमवान् पर्वत है क्योंकि हिमवान पर्वत भी इसी तरह हिम से आच्छादित होगा। क्योंकि अब केवल नाम रह गए हैं वास्तविक स्थिति कुछ और है। इस हिमवान पर्वत के ऊपर तालाब और तालाब में एक योजन का कमल है।

आगे के सूत्र में सरोवर व कमलों का विस्तार बताते हुए आचार्य लिखते हैं–

तद् द्विगुण–द्विगुणा ह्रदाः पुष्कराणि च।।18।।

अर्थ– आगे के सरोवर और कमल क्रम से प्रथम सरोवर तथा उसके कमल से दूने–दूने विस्तार वाले हैं। यह दूने–दूने का क्रम तिगिंछ नामक तीसरे सरोवर तक ही है। उसके आगे तीन सरोवर और कमल दक्षिण के सरोवर के कमलों के समान विस्तार वाले हैं।

प्रथम सरोवर का वर्णन करने के बाद आचार्य आगे के सरोवर व कमलों का विस्तार बताते हुए लिखते हैं– आगे–आगे के सरोवर व कमलों का विस्तार दुगुना–दुगुना करते चले जाना। पद्म से महापद्म की और महामद्म से तिगिंछ की लम्बाई, विस्तार व गहराई दूनी–दूनी है। पहला एक योजन का कमल है तो दूसरा दो योजन का कमल है उसके बाद चार योजन का कमल है। इस तरह आप इनका दुगुना–दुगुना करते चले जाना।

कमलों में निवास करने वाली देवियों के विषय में आचार्य लिखते हैं–

तन्निवासिन्यो देव्यः श्री–ह्री–धृति–कीर्ति–बुद्धि–लक्ष्म्यः पल्योपमस्थितयः ससामानिक–परिषत्काः।।19।।

अर्थ– उन सरोवरों के कमलों पर क्रम से श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी–ये छह देवियाँ एक पल्य की आयु वाली हैं तथा सामानिक और पारिषद जाति के देवों के साथ निवास करती हैं।

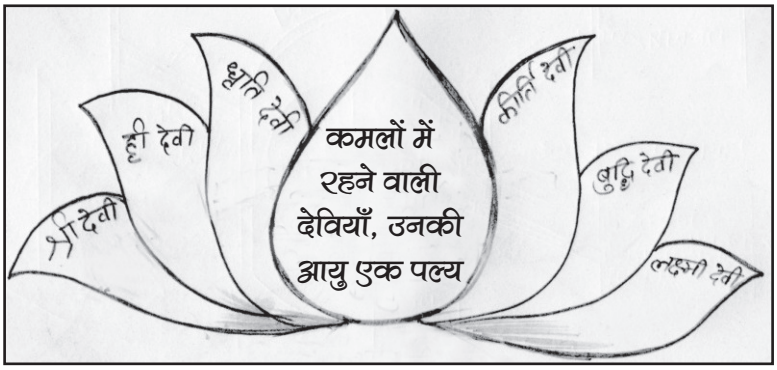

पर्वतों के सरोवरों में जो कमल की रचना हैं वे सभी पृथ्वीकायिक हैं। वे कमल वनस्पति कायिक नहीं हैं। उन कमलों में महल बने हुए है और उन महलों में देवियाँ निवास करती हैं। पहले कमल में श्री देवी, दूसरे कमल में ह्री देवी, तीसरे कमल में धृति देवी, चौथे कमल में कीर्ति देवी, पाँचवें कमल में बुद्धि देवी और छठवें कमल में लक्ष्मी नामकी देवी निवास करती है। ये देवियाँ

किसके साथ रहती हैं? आचार्य लिखते हैं–सामानिक और पारिषद् जाति के जो देव होते हैं उनके साथ ये देवियाँ रहती हैं। इनकी आयु एक पल्य की होती है। पल्य और सागर ये दोनों असंख्यात वर्षों के होते हैं। पल्य छोटा होता है और सागर बड़ा होता है। 10 कोड़ा कोड़ी पल्यों का एक सागर होता है। ये देवियाँ क्या करती हैं? तीर्थंकर बालक के जन्म से पहले माता की सेवा करने के लिए इनको नियुक्त किया जाता है। जन्म के पश्चात् भी माता की सेवा करना, माता को रिझाना, खिलाना और तीर्थंकर बालक के मन बहलाने का भी मुख्य कार्य इन देवियों का ही होता है।

उन क्षेत्रों में कौन–कौन सी नदियाँ बहती है इसका वर्णन भी आचार्य आगे के सूत्र में करते हैं–

गंगा–सिन्धुरोहिद्रो–हितास्या–हरिद्धरिकान्ता–सीता– सीतोदा–नारी– नरकान्ता–सुवर्ण–रूप्यकूला–रक्तारक्तोदाः सरितस्तन्मध्यगाः ।।20।।

नदियाँ

सरोवर नाम (जिससे नदियाँ निकलती हैं)	नदियों के नाम	बहने का क्षेत्र	किस दिशा में जाती हैं?	परिवार नदियाँ
पद्म	सिंधु	भरत	दो–दो नदियाँ	14,000
	गंगा	भरत	के युगलों में	14,000
	रोहितास्या	हैमवत	से पहली–	28,000
महापद्म	रोहित	हैमवत	पहली नदी	28,000
	हरिकान्ता	हरि	(जैसे – गंगा)	56,000
तिगिंछ	हरित्	हरि	पूर्व समुद्र में	56,000
	सीतोदा	विदेह	एवं बाद–बाद	1,12,000
केशरी	सीता	विदेह	की नदी	1,12,000
	नरकान्ता	रम्यक	(जैसे सिंधु)	56,000
महा	नारी	रम्यक	पश्चिम समुद्र	56,000
पुण्डरीक	रूप्यकूला	हैरण्यवत	में मिलती है।	28,000
पुण्डरीक	सुवर्णकूला	हैरण्यवत		28,000
	रक्तोदा	ऐरावत		14,000
	रक्ता	ऐरावत		14,000

अर्थ– गंगा, सिन्धु, रोहित्, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकूला, रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा–ये चौदह महानदी भरत आदि सात क्षेत्रों में बहती हैं।

उन तालाबों से निकलने वाली नदियों के नाम यहाँ पर बताये जा रहे हैं–गंगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरित्, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी–नरकान्ता– सुवर्णकूला– रूप्यकूला, रक्ता, रक्तोदा। एक–एक तालाब से दो–दो नदियाँ निकलती हैं। पहले पद्म और अन्तिम पुण्डरीक से तीन–तीन नदियाँ निकलती हैं। आप समझ सकते हैं कि इन नदियों का स्वरूप कितना बड़ा होगा?भले ही वर्तमान में जो गंगा नदी यहाँ बहती है यह वह गंगा नदी नहीं है जो सूत्र में बताई जा रही है। यहाँ केवल नाम में ही समानता है। भरत क्षेत्र में गंगा–सिन्धु, हैमवत् क्षेत्र में– रोहित–रोहितास्या, हरि क्षेत्र में हरित्–हरिकान्ता, विदेहक्षेत्र में सीता–सीतोदा, रम्यक क्षेत्र में नारी–नरकान्ता, हैरण्यवत क्षेत्र में सुवर्णकूला– रूप्यकूला और ऐरावत क्षेत्र में रक्ता–रक्तोदा नदियाँ बहती हैं। उनके गमन भी अलग दिशा में है।

नदियों के बहने के क्रम के विषय में आचार्य लिखते हैं–

द्वयोर्द्वयोः पूर्वाः पूर्वगाः।।21।।

अर्थ– सूत्र के क्रमानुसार गंगा सिन्धु इत्यादि दो–दो नदियों में से प्रथम नदियाँ पूर्वगाः–पूर्व दिशा में बहती हैं और लवण समुद्र में गिरती है।

इन सभी नदियों के जोड़े हैं। जैसे– गंगा–सिन्धु, रोहित–रोहितास्या, हरित्–हरिकान्ता, सीता–सीतोदा, नारी–नरकान्ता, सुवर्णकूला–रूप्यकूला, रक्ता–रक्तोदा। इस तरह से इन नदियों के जो जोड़े बने हुए हैं उनमें पहले–पहले नाम की नदियाँ पूर्व दिशा में बहते हुए लवण समुद्र में गिर जाती हैं अर्थात् गंगा, रोहित, हरित, सीता, नारी, सुवर्णकूला और रक्ता–ये सात नदियाँ पूर्व समुद्र में जाकर गिरती हैं।

अन्य नदियों के बहने के दिशा विशेष विषय में आचार्य लिखते हैं–

शेषास्त्वपरगाः।।22।।

अर्थ– शेष बची हुई सात नदियाँ पश्चिम की ओर बहकर समुद्र में गिरती है।

शेष जो सात नदियाँ बची हैं वह पश्चिम की ओर बहकर लवण समुद्र में गिर जाती हैं। अर्थात् सिन्धु, रोहितास्या, हरिकान्ता, सीतोदा, नरकान्ता, रूप्यकूला और रक्तोदा में सात नदियाँ पश्चिम की ओर जाकर लवण समुद्र में गिर जाती है।

इन महानदियों की सहायक नदियों के विषय में आचार्य बता रहे हैं–

चतुर्दश–नदी–सहस्रपरिवृता गंगा– सिन्ध्वादयो नद्यः।।23।।

अर्थ– गंगा, सिन्धु आदि नदियों के युगल चौदह–चौदह हजार नदियों से घिरे हुए हैं।

आचार्य लिखते हैं–इन नदियों के साथ में छोटी–छोटी नदियाँ और होती हैं। जिन्हें सहायक नदी कहते हैं। गंगा, सिन्धु आदि नदियों के साथ चौदह–चौदह हजार नदियाँ और भी बहती हैं। यह इन नदियों की विशेषता है। इस प्रकार आगे की परिवार नदियाँ विदेह पर्यन्त दूनी–दूनी होती गयी हैं और इससे आगे की परिवार नदियाँ आधी–आधी होती गयी हैं।

भरत क्षेत्र के विस्तार के विषय में आचार्य लिखते हैं–

भरतःषड्विशंति–पंचयोजन–शत–विस्तारःषट्चैकोनविंशति–भागा योजनस्य।।24।।

अर्थ– भरत क्षेत्र का विस्तार पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छः भाग प्रमाण है।

भरत क्षेत्र का विस्तार बताते हुए आचार्य लिखते हैं– वह भरत क्षेत्र कैसा है? जम्बूद्वीप के नक्शे में आप भरत क्षेत्र देखोगे तो वह भरत क्षेत्र ऐसा लगेगा जैसे कोई गोल वस्तु है उसके नीचे की ओर उसका जितना गोल हिस्सा रहेगा वहाँ पर एक सीधी रेखा खींचोगे तो वह एक चन्द्रमा की आकृति बन जाएगी। उतनी आकृति के बराबर वह भरत क्षेत्र है। उतनी ही आकृति के बराबर ऐरावत क्षेत्र होगा। उस भरत क्षेत्र की माप पाँच सौ छब्बीस योजन और एक योजन के उन्नीस भागों में से छह भाग प्रमाण है। अर्थात् भरत क्षेत्र का विस्तार $526\frac{6}{19}$ है।

आगे के क्षेत्र एवं पर्वतों के विस्तार के विषय में आचार्य लिखते हैं–

तद् द्विगुण–द्विगुण–विस्तारा वर्षधर वर्षा विदेहान्ताः।।25।।

अर्थ– विदेह क्षेत्र पर्यन्त पर्वत और क्षेत्र भरत क्षेत्र के विस्तार से दूने–दूने विस्तार वाले हैं।

विदेह–अन्तः– विदेह क्षेत्र पर्यन्त, वर्षधर– पर्वत, वर्ष– क्षेत्र, तद्– उस, भरतक्षेत्र से, द्विगुण–द्विगुण–विस्ताराः– दुगुने–दुगुने विस्तार वाले हैं। विदेह क्षेत्र तक के जो पर्वत और क्षेत्र हैं उनका विस्तार इसी योजन के दुगुने–दुगुने करते चले जाना। अर्थात् ये सभी दुगुने–दुगुने विस्तार वाले हैं। भरत क्षेत्र से हिमवान् दुगुना, हिमवान् से हैमवत दुगुना, हैमवत से महाहिमवान् दुगुना, महाहिमवान् से हरि क्षेत्र दुगुना, हरिक्षेत्र के निषध दुगुना और निषध से विदेह क्षेत्र दुगुना है। अर्थात् भरत का क्षेत्र $526\frac{6}{19}$ योजन है तो हिमवान् पर्वत का विस्तार $1052\frac{12}{19}$ योजन, हैमवत क्षेत्र का $2105\frac{5}{19}$ योजन, महाहिमवान् पर्वत का $4210\frac{10}{19}$ योजन, हरिवर्ष क्षेत्र का विस्तार $8421\frac{1}{19}$ योजन, निषध पर्वत का विस्तार $16842\frac{2}{19}$ योजन और विदेह क्षेत्र का विस्तार $33684\frac{4}{19}$ योजन है।

विदेह के आगे के पर्वत और क्षेत्रों के विस्तार के विषय में आचार्य लिखते हैं–

उत्तरा दक्षिणतुल्याः ।।26।।

अर्थ– विदेह क्षेत्र के उत्तर के तीन पर्वत और तीन क्षेत्र दक्षिण के पर्वतों और क्षेत्रों के समान विस्तार वाले हैं।

सुमेरू पर्वत के दक्षिण की ओर जो पर्वत और क्षेत्र हैं उसके उत्तर दिशा की ओर भी उतनी ही माप वाले पर्वत और क्षेत्र हैं। अर्थात् विदेह से नील पर्वत आधा है, नील से रम्यक क्षेत्र आधा है, रम्यकक्षेत्र से रुक्मी पर्वत आधा है, रुक्मी पर्वत से हैरण्यवत क्षेत्र आधा है, हैरण्यवत क्षेत्र से शिखरी पर्वत आधा है और शिखरी पर्वत से ऐरावत क्षेत्र आधा है। इसी प्रकार तालाब व कमल आदि की समानता लगा लेनी चाहिए।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में काल–परिवर्तन के विषय में आचार्य लिखते हैं–

भरतैरावतयोर्वृद्धि ह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम् ।।27।।

अर्थ– छह कालों से युक्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के द्वारा भरत व ऐरावत क्षेत्र में जीवों की आयु, काय, भोग, उपभोग में वृद्धि और हानि होती रहती है।

	क्र.	कालों के नाम	स्थिति प्रमाण	मनुष्यों की आयु	शरीर की ऊँचाई	वर्ण	आहार
भोग भूमि	1.	**सुषमा सुषमा**	4 कोड़ाकोड़ी सागर	3 पल्य– 2 पल्य	3 कोस– 2 कोस	उदित सूर्य सदृश	3 दिन बाद बेर जितना
	2.	**सुषमा**	3 कोड़ाकोड़ी सागर	2 पल्य– 1 पल्य	2 कोस– 1 कोस	पूर्ण चन्द्र सदृश	2 दिन बाद बहेड़ा जितना
	3.	**सुषमा दुषमा**	2 कोड़ाकोड़ी सागर	1 पल्य– 1 पूर्व कोटी	1 कोस– 500 धनुष	प्रियगुङगु (हरा) सदृश	1 दिन बाद आँवले जितना
कर्म भूमि	4.	**दुषमा सुषमा**	42000 वर्ष कम 1 कोड़ा कोड़ी सागर	1 पूर्व कोटी 120 वर्ष	500 धनुष– 7 हाथ	पाँचों वर्ण	प्रतिदिन 1बार
	5.	**दुषमा**	21000 वर्ष	120 वर्ष 20 वर्ष	7 हाथ– 2 हाथ	पाँचों वर्ण कांतिहीन	बहुत बार
	6.	**दुषमा दुषमा**	21000 वर्ष	20 वर्ष 15 वर्ष	2 हाथ– 1 हाथ	धूम्र वर्ण सदृश	बारम्बार, तीव्र गृद्धता के साथ

काल परिवर्तन भरत–ऐरावत क्षेत्र में ही होता है।
यह तालिका अवसर्पिणी काल की है, उत्सर्पिणी में ठीक इससे विपरीत होता है।

भरत और ऐरावत क्षेत्र में वृद्धि और ह्रास होता है। जब मनुष्य और तिर्यंचों की आयु ,ऊँचाई,

भोग, उपभोग आदि बढ़ते चले जाएं तो उसे उत्सर्पिणी काल कहते हैं और जब ये सभी घटते चले जाएँ तो उसे अवसर्पिणी काल कहते हैं। उन छह कालों का परिवर्तन मात्र भरत और ऐरावत क्षेत्र में होता है। अन्य क्षेत्रों में वृद्धि और ह्रास नहीं होता है। जैसे यहाँ भरत क्षेत्र में अभी ह्रास का काल चल रहा है जिसका नाम अवसर्पिणी काल है। इसमें सभी चीजें समय–समय पर घटती चली जाती हैं। आज मनुष्यों की जितनी आयु है वह आने वाले समय में और भी कम होती चली जाऐगी। उनकी ऊँचाई, भोगोपभोग और आयु भी आने वाले समय में कम होती जायेगी। यह अवसर्पिणी काल के प्रभाव से भरत व ऐरावत क्षेत्र में चल रहा है। भरत, ऐरावत क्षेत्रों में भोगभूमि और कर्मभूमि का काल कब कब होता है और उस समय जीवों की आयु आदि कितनी होती है यह तालिका से जाना जा सकता है। अवसर्पिणी काल में ऐसा होता है–

अवसर्पिणी के चौथे व उत्सर्पिणी के तीसरे काल में, 63 शलाका पुरुषों की उत्पत्ति होती है। वर्तमान में हुण्डावसर्पिणी काल चल रहा है जो असंख्यात कल्पकाल बीतने के बाद आता है। परिणाम स्वरूप, कुछ अनहोनी घटनाएं हुईं वे इस प्रकार हैं– तृतीय काल में कुलकर व तीर्थंकर की उत्पत्ति, तृतीय काल में ही मुक्ति, तीर्थंकरों पर उपसर्ग, चक्रवर्ती का मानभंग आदि।

छठे, दुषमा–दुषमा काल के अन्त में प्रलय होती है। सात–सात दिन तक क्रम से सरस, विरस, तीक्ष्ण, रूक्ष, उष्ण, विष और क्षारमेघ की वर्षा होती है जिससे पृथ्वी समतल हो जाती है। चित्रा भूमि निकल आती है। सम्पूर्ण आर्य खण्ड में प्रलय होने पर मनुष्यों व तिर्यंचों के 72 युगल अथवा अनेक मनुष्य व तिर्यंच युगल विजयार्ध पर्वत की गुफा में चले जाते हैं। इस प्रकार दस–कोड़ा कोड़ी सागर का अवसर्पिणी काल समाप्त हो जाता है।

इसके बाद (प्रलय के बाद) दस कोड़ा कोड़ी सागर का उत्सर्पिणीकाल प्रारम्भ होता है। सर्वप्रथम दुषमा–दुषमा काल रहता है। सात–सात दिन तक अमृत, दुग्ध, घी आदि की वर्षा होती है। जिससे औषधि, वृक्ष, गुल्म, तृण आदि पुनः उग आते हैं विजयार्ध पर्वत की गुफा से मनुष्य व तिर्यंच आदि निकलकर जीवन यापन करना प्रारम्भ कर देते हैं।

आगे के सूत्र में अन्य भूमियों की व्यवस्था कैसी है? इसका वर्णन आचार्य कर रहे हैं–

ताभ्यामपरा भूमयोऽवस्थिताः।।28।।

अर्थ– उन दोनों अर्थात् भरत और ऐरावत क्षेत्र के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में एक समान ही अवस्था रहती है। उनमें काल परिवर्तन नहीं होता है।

इस सूत्र में आचार्य कहते हैं–भरत और ऐरावत क्षेत्र के अतिरिक्त जो अन्य भूमियाँ है, उनमें काल का परिवर्तन नहीं होता है। जैसे भरत के बाद हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत क्षेत्र आते

अवस्थित भूमियों के काल

क्षेत्र का नाम	काल
देवकुरु–उत्तर कुरु	प्रथम काल – उत्तम भोगभूमि
हरि–रम्यक	द्वितीय काल – मध्यम भोगभूमि
हैमवत–हैरण्यवत	तीसरा काल – जघन्य भोगभूमि
विदेह	चौथे काल की आदि
कुभोग भूमि–अंतर्द्वीपज	तीसरा काल तुल्य
मानुषोत्तर पर्वत से स्वयंप्रभ पर्वत तक असंख्यात द्वीप एवं समुद्र	तीसरा काल तुल्य
अंत का आधा स्वयंभूरमण द्वीप, स्वयंभूरमण समुद्र एवं चार कोने	पंचम काल तुल्य
देव गति	प्रथम काल तुल्य
नरक गति	छठा काल तुल्य

भरत एवं ऐरावत के पाँच म्लेच्छ खण्ड एवं विद्याधरों की श्रेणियाँ	चौथे काल के आदि से लगाकर उसी के अंत तक हानि–वृद्धि

हैं, वहाँ काल का परिवर्तन नहीं होता है। वहाँ की भूमि अवस्थित हैं अर्थात् समान रहती हैं।

हैमवत आदि क्षेत्रों में आयु के विषय में आचार्य कहते हैं–

एक–द्वि–त्रि–पल्योपम–स्थितयो हैमवतक– हारिवर्षक–दैवकुरवकाः ।।29।।

अर्थ– हैमवत क्षेत्र के मनुष्यों की आयु एक पल्य, हरिवर्ष क्षेत्र के मनुष्यों की आयु दो पल्य, देवकुरू (विदेह के अन्तर्गत उत्तम भोगभूमि) के मनुष्यों की आयु तीन पल्य की है।

हैमवत, हरिवर्ष और देवकुरु क्षेत्रों में क्रम–क्रम से एक पल्य, दो पल्य और तीन पल्य की आयु वहाँ के मनुष्य और तिर्यंचों की होती है। भरत क्षेत्र के बाद जो हैमवत क्षेत्र आता है यहाँ जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था और अन्तिम ऐरावत क्षेत्र से पहले हैरण्यवत क्षेत्र आता है वहाँ भी जघन्य

भोगभूमि होती है। हैमवत के बाद जो हरि क्षेत्र आएगा वहाँ मध्यम भोगभूमि होती है और इधर हैरण्यवत क्षेत्र से पहले जो रम्यक क्षेत्र आएगा वहाँ भी मध्यम भोगभूमि होती है। मध्य में विदेह क्षेत्र में भोगभूमि के दो भाग हो जाते हैं। पहला देवकुरू और दूसरा उत्तरकुरू कहलाता है। उन दोनों में उत्कृष्ट भोगभूमि होती है। विदेह क्षेत्र में कर्मभूमि की व्यवस्था अलग है।

हैरण्यवत आदि क्षेत्रों में आयु के विषय में आचार्य कहते हैं–

तथोत्तराः ।।30।।

अर्थ– उसी प्रकार उत्तर में है। अर्थात् उत्तर के क्षेत्रों में रहने वाले मनुष्य भी हैमवत आदि के मनुष्यों के समान आयु वाले हैं।

जैसे हमने सूत्र में दक्षिण दिशा की ओर के हैमवत, हरिवर्ष, देवकुरू के बारे में भोगभूमि की व्यवस्था बताई है, उसी तरह सुमेरू पर्वत के उत्तर दिशा की ओर वाले क्षेत्रों में आयु होती है। जैसे यहाँ पर भोगभूमियों एक पल्य, दो पल्य, तीन पल्य, की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच हैं उन क्षेत्रों में भी वैसी ही आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच हैं।

विदेह क्षेत्र में आयु के विषय में आचार्य कहते हैं–

विदेहेषु संख्येयकालाः ।।31।।

अर्थ– विदेह क्षेत्रों में मनुष्य और तिर्यंच संख्यात वर्ष की आयु वाले होते हैं।

अभी जो आयु बताई गई थी वह भोगभूमि में रहने वाले मनुष्यों और तिर्यंचों की आयु थी। विदेह क्षेत्र में जो कर्मभूमियाँ हैं वहाँ पर कितनी आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच रहते हैं? आचार्य कहते हैं–वहाँ पर संख्यात वर्ष की आयु वाले मनुष्य और तिर्यंच होते हैं। वहाँ उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की होती है। आपने सुना होगा कि आदिनाथ भगवान की आयु चौरासी लाख पूर्व वर्ष की थी। पूर्व का प्रमाण क्या होता है?चौरासी लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है। चौरासी लाख पूर्वांग का ही एक पूर्व होता है। 84 लाख को 84 लाख से गुणा करने पर उसका एक पूर्व बनेगा और उसमें एक करोड़ का गुणा करने पर वह एक करोड़ पूर्व बन जाएगा। इस तरह विदेह क्षेत्र में रहने वाले जीवों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की होती है।

32 विदेह क्षेत्र होते हैं। इन 32 क्षेत्रों में एक क्षेत्र में एक ही तीर्थंकर या चक्रवर्ती हो सकता है। दो तीर्थंकर या दो चक्रवर्ती एक क्षेत्र में कभी भी नहीं हो सकते हैं। कर्मभूमियाँ 170 होती हैं। ये किस प्रकार होती हैं? एक मेरू सम्बन्धी विदेह क्षेत्र में 32 क्षेत्र हैं और पाँचों मेरू के आस–पास भी यही व्यवस्था है। इस तरह 32 को 5 से गुणा करने पर 160 होता है। इस प्रकार पाँचों मेरू सम्बन्धी 160

कर्मभूमियाँ हो जाती हैं। 5 भरत और 5 ऐरावत में 10 कर्मभूमियाँ हो जाती है। इस तरह ये सभी मिलाकर 170 कर्मभूमियाँ हो जाती हैं। इन सभी पाँच विदेहों में जो मनुष्य होते हैं उनकी आयु संख्यात वर्ष की होती है। उस संख्या का प्रमाण क्या है? तो आचार्य कहते हैं सुषमा–दुषमा काल के समय जैसे व्यवस्था होती है उसी के समान व्यवस्था होती है। भोगभूमि का अवसान होने पर कर्मभूमि का जिस समय प्रारम्भ हो जाता है उसी तरह की विदेह क्षेत्र में व्यवस्था बनी रहती है। भगवान आदिनाथ का जन्म–समय तीसरे काल के अन्त का ही है। तीसरे काल के अन्त में ही कर्मभूमि का प्रारम्भ हो गया था। विवाह इत्यादि होने प्रारम्भ हो चुके थे। इसी तरह का वातावरण विदेह क्षेत्र में हमेशा अवस्थित रहता है। विदेह क्षेत्र के मनुष्यों की ऊँचाई 500 धनुष होती है। भरत–ऐरावत क्षेत्रों की कर्मभूमियों के मनुष्यों की ऊँचाई पाँच फुट, चार फुट, 3 फुट भी हो सकती है। परन्तु विदेह क्षेत्र के मनुष्यों की अवगाहना पाँच सौ धनुष की ही होती है। एक धनुष 4 हाथ का होता है। यहाँ एक बात यह भी समझने योग्य है कि विदेह क्षेत्र में 500 धनुष की अवगाहना वाले ही मनुष्य होंगे परन्तु अपने इस भरत क्षेत्र में इसी अवसर्पिणी काल में बाहुबलि भगवान की ऊँचाई 525 धनुष थी। जबकि आदिनाथ भगवान एवं भरत की ऊँचाई 500 धनुष थी। भरत और ऐरावत क्षेत्र में 500 धनुष से अधिक ऊँचाई भी हो सकती है लेकिन विदेह क्षेत्र में नियम है वहाँ पर शरीर की ऊँचाई 500 धनुष ही होगी। यह जो 525 धनुष की ऊँचाई बताई गई है यह भी अवसर्पिणी काल में एक विशेष काल जिसे हुण्डावसर्पिणी काल कहते हैं उसी काल के प्रभाव के कारण ऐसा होता है। कई अवसर्पिणी काल व्यतीत होने के पश्चात् एक हुण्डा अवसर्पिणी काल आता है। इस काल में, कुछ घटनाएं ऐसी घटित होती है जो सिद्धान्त के विरुद्ध होती हैं। अधिकतम ऊँचाई 500 धनुष मानी जाती है लेकिन 525 धनुष भी हो जाती है। यह भी इस काल का एक दोष है। यह काल–दोष भरत और ऐरावत क्षेत्र में ही चलेगा अन्यत्र इस काल की कोई व्यवस्था नहीं है।

आहार व्यवस्था–आचार्य कहते हैं कि जिस तरह उत्कृष्ट भोगभूमि वाले मनुष्य 3 दिन बाद आहार लेते हैं, मध्यम भोगभूमि में रहने वाले मनुष्य 2 दिन बाद आहार लेते हैं और जघन्य भोगभूमि में रहने वाले मनुष्य एक दिन बाद आहार लेते हैं। लेकिन कर्मभूमि में ऐसा कोई नियम नहीं है। कर्मभूमि के मनुष्य प्रतिदिन आहार करने वाले होते हैं। यदि एक या दो दिन बिना आहार का हो भी जाए तो उसे तपस्या कहते हैं। सामान्य से तो कर्मभूमि का नियम यही है कि यहाँ मनुष्य प्रतिदिन आहार करने वाले होते हैं।

आयु– इनकी आयु के विषय में आचार्य लिखते हैं– इनकी उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की होती है। कोटि का अर्थ करोड़ होता है। एक पूर्व में करोड़ का गुणा करने पर एक कोटि पूर्व की आयु बनती है। पूर्व आयु को मापने का एक मात्रक है। विदेह क्षेत्र के मनुष्यों की जघन्य आयु अर्न्तमुहूर्त की भी होती है। अन्तर्मुहूर्त का समय 48 मिनट का होता है। इस जघन्य आयु से उनकी उत्कृष्ट

आयु एक कोटि पूर्व वर्ष की भी हो सकती है। विदेह क्षेत्र के मनुष्य की आयु में तो अन्तर हो सकता है किन्तु उनकी ऊँचाई में अन्तर नहीं होता है। इस आयु के सम्बन्ध में एक गाथा भी आती है–

'पुव्वस्स दु परिणामं सदरिं खलु कोडिसदसहस्साइं।
छप्पण्णं च सहस्सा बोद्धव्वा वासकोडीणं।।'

इस गाथा में पूर्व का परिमाण बताया है– सत्तर लाख करोड़ और छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक कोटि पूर्व बन जाता है। इसको इस तरह से भी समझा जा सकता है– 84 लाख वर्ष का एक पूर्वांग होता है और 84 लाख पूर्वांग का ही एक पूर्व होता है। 84 लाख को 84 लाख से गुणा करने पर एक पूर्व बनता है। उसमें एक करोड़ का गुणा करने पर वह एक कोटि पूर्व बन जाएगा। इतनी आयु विदेह क्षेत्र के मनुष्यों की होती है।

आगे के सूत्र में भरत क्षेत्र के विस्तार का वर्णन किया जा रहा है–

भरतस्य विष्कम्भो जम्बूद्वीपस्य नवतिशतभागः।।32।।

अर्थ– भरत क्षेत्र का विस्तार जम्बूद्वीप का एक सौ नब्बेवाँ (1/190) भाग है।

भरत क्षेत्र का विस्तार बताने वाला पहले भी सूत्र नं. 24 आया है। पिछले सूत्र में भरत क्षेत्र का विस्तार माप सहित बताया था कि वह योजन विस्तार का है। यहाँ जो विस्तार बताया है वह जम्बूद्वीप की अपेक्षा बताया है। पूरा जम्बूद्वीप एक लाख योजन का है। उस जम्बूद्वीप में भरत, ऐरावत, विदेह क्षेत्र आदि भी हैं। कुलाचल–पर्वत, विजयार्ध पर्वत, नदियाँ आदि भी हैं। जम्बूद्वीप का कितना भाग भरत क्षेत्र ने घेरा है? मानो ऐसा पूछने पर उत्तर है कि पूरे जम्बूद्वीप का 190वाँ (1/190) भाग ही भरत क्षेत्र का है। तात्पर्य यह है कि यदि जम्बूद्वीप के 190 बराबर के टुकड़े किये जाएँ तो एक भाग जितना ही भरत क्षेत्र है और उसका प्रमाण $526\frac{6}{19}$ योजन है। उसमें जो भरत क्षेत्र है वह नीचे उल्टे चन्द्रमा के आकार का है। उस जम्बूद्वीप के एक लाख योजन का कितना हिस्सा इस भरत क्षेत्र का है इसी का निरूपण इस सूत्र में किया जा रहा है। आप इस जम्बूद्वीप के 190 भाग करें। उसके एक भाग का जो क्षेत्रफल आए वही इस भरतक्षेत्र का क्षेत्रफल है। विष्कम्भ से तात्पर्य–उसका विस्तार है।

जम्बूद्वीप चारों ओर से लवण समुद्र से घिरा हुआ है। प्रत्येक द्वीप समुद्र से और समुद्र द्वीप से घिरा हुआ होता है। जम्बूद्वीप से दुगुना अर्थात् दो लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है। इस तरह ये दुगुने–दुगुने होते चले जाते हैं। जम्बूद्वीप का विस्तार एक लाख योजन है इसका दुगुना लवण समुद्र जो दो लाख योजन का है, इसका दुगुना धातकीखण्ड जो चार लाख योजन का है, धातकीखण्ड से दुगुना कालोदधि समुद्र है जो आठ लाख योजन का है और कालोदधि से दुगुना

पुष्कर द्वीप है जो सोलह लाख योजन का है।

धातकीखण्ड द्वीप का वर्णन आचार्य आगे के सूत्र में बताते हैं–

द्विर्धातकी खण्डे।।33।।

अर्थ– धातकीखण्ड में क्षेत्र और पर्वत दुगने हैं। अर्थात् धातकीखण्ड नामक दूसरे द्वीप में क्षेत्र, कुलाचल, मेरू, नदी आदि की रचना जम्बूद्वीप से दुगुनी–दुगुनी है।

आपको जम्बूद्वीप की जैसी व्यवस्थाएँ बताई गई हैं, वहाँ के पर्वतों, नदियों और तालाबों की जो भी व्यवस्था बताई थीं वैसी ही धातकीखण्ड में है। लेकिन वहाँ पर सभी व्यवस्था दुगुनी–दुगुनी हैं। जैसे जम्बूद्वीप में एक सुमेरू पर्वत है वहाँ पर दो मेरू–विजय, अचल पर्वत हैं। यहाँ पर एक भरत क्षेत्र है वहाँ पर दो भरत क्षेत्र हैं। यहाँ पर एक ऐरावत क्षेत्र है वहाँ पर दो ऐरावत क्षेत्र हैं। इस तरह से धातकीखण्ड में सभी व्यवस्थाऐं दुगुनी–दुगुनी होती चली जाती हैं। यह धातकीखण्ड दो इष्वाकार पर्वतों से विभाजित हो जाता है। ये इष्वाकार पर्वत लवण समुद्र और कालोदधि समुद्र को छूते हुए रहते हैं और यह धातकीखण्ड द्वीप को पूर्वाकृत रूप से विभाजित करने वाले हो जाते हैं। इसमें पूर्व और अपर के मध्य में दो मन्दर पर्वत कहलाते हैं। जैसे जम्बूद्वीप में सुमेरू पर्वत है। धातकीखण्ड द्वीप में दो मेरू पूर्व में विजय और पश्चिम में अचल है। धातकीखण्ड द्वीप की व्यवस्था भी जम्बूद्वीप जैसी होती है। वहाँ पर भी भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत क्षेत्र हैं। ये सभी क्षेत्र वहाँ पर दो–दो हैं।

जिस तरह जम्बूद्वीप में जम्बूवृक्ष स्थित है उसी तरह धातकीखण्ड द्वीप में धातकीवृक्ष है। धातकीवृक्ष परिवार के साथ स्थित होता है। इस जम्बूवृक्ष के कारण ही इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप जाना जाता है और धातकी वृक्ष के कारण ही धातकीखण्ड द्वीप का नाम धातकीखण्ड जाना जाता है। धातकीखण्ड द्वीप भी कालोदधि समुद्र से घिरा हुआ है। इसका विस्तार आठ लाख योजन है। यह कालोदधि समुद्र पुष्कर द्वीप से घिरा हुआ है। पुष्कर द्वीप का विस्तार सोलह लाख योजन है। इस पुष्कर द्वीप के आधे भाग को ही हम पुष्करार्द्ध द्वीप कहते हैं। क्योंकि इस पुष्करद्वीप का आधा भाग इस कर्मभूमि में माना जाता है और आधा भाग भोगभूमि में चला जाता है।

पुष्कर द्वीप का वर्णन आचार्य आगे के सूत्र में करते हैं–

पुष्करार्द्धे च।।34।।

अर्थ– पुष्कारार्द्ध द्वीप में भी धातकीखण्ड द्वीप की तरह क्षेत्र, पर्वत आदि हैं, जो दो–दो हैं।

धातकीखण्ड के बाद पुष्कर द्वीप है। वह पुष्कर द्वीप पूरा ग्रहण नहीं करना क्योंकि उसका आधा भाग ही मनुष्य लोक में आता है और आधा भाग तिर्यग्लोक में आता है। मानुषोत्तर पर्वत से इस पुष्कर द्वीप के दो भाग होते हैं। यहाँ 'च' शब्द से तात्पर्य है– इसमें भी वही व्यवस्था जानना अर्थात् धातकीखण्ड द्वीप में दो–दो की व्यवस्था थी वही व्यवस्था यहाँ पुष्करार्द्ध द्वीप में है। यहाँ पर भी दो भरत क्षेत्र होते हैं, दो ऐरावत क्षेत्र होते हैं। ऐसी दुगुनी–दुगुनी व्यवस्था इस पुष्कर द्वीप में भी होती है। पुष्करार्द्ध द्वीप में दो इष्वाकार पर्वत, मन्दर व विद्युन्माली दो मेरू, भरतादि क्षेत्र दो–दो है, हिमवान आदि पर्वत तथा कमलादि भी दुगुने दुगुने हैं। जिस तरह जम्बूद्वीप में परिवार सहित जम्बूवृक्ष है उसी प्रकार पुष्करार्द्ध द्वीप में पुष्कर वृक्ष है। इस वृक्ष के नाम से ही इस द्वीप का नाम पुष्कर द्वीप है। इस पुष्कर द्वीप को पुष्करार्द्ध द्वीप क्यों कहते हैं? तो आचार्य कहते हैं– मानुषोत्तर पर्वत से विभक्त होने के कारण से इसका नाम पुष्करार्द्ध जाना जाता है।

मनुष्य क्षेत्र के विषय में आचार्य लिखते हैं–

प्राङ्.मानुषोत्तरान्मनुष्याः ।।35।।

अर्थ– मानुषोत्तर पर्वत के पहले ही मनुष्य हैं।

आचार्य बताते हैं–मनुष्य कहाँ तक रहते हैं?जम्बूद्वीप के बाद धातकीखंड द्वीप और उसके बाद आधा पुष्कर द्वीप यहाँ तक ही मनुष्य रहते हैं। वह पुष्कर द्वीप कहाँ से आधा हुआ है तो एक चूड़ी के समान गोल मानुषोत्तर पर्वत होता है जिससे यह पुष्कर द्वीप आधा हो जाता है। इसीलिए पुष्करार्द्ध शब्द बन जाता है–अर्थात् पुष्कर का आधा। इसी जम्बूद्वीप, धातकीखंड और आधे पुष्कर द्वीप में मनुष्य रहते हैं। अर्थात् ढाई द्वीप तक ही मनुष्य रहते हैं और ढाई द्वीप के बाद जो असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं वहाँ मनुष्य नहीं होते हैं। उस ढाई द्वीप का विभाजन मानुषोत्तर पर्वत से हो जाता है। मानुषोत्तर का अर्थ भी यही निकलता है इसके आगे मनुष्य नहीं जाते हैं। कोई भी देवता किसी भी मनुष्य को उस ओर नहीं ले जा सकता है। ढ़ाई द्वीप में ही दो समुद्र लवणोदधि व कालोदधि है। इस ढ़ाई द्वीप के बाहर विद्याधर भी अपने विमानों से नहीं जा सकते हैं। चारण ऋद्धिधारी मुनि महाराज भी इस ढाई द्वीप से बाहर नहीं जा सकते हैं। ऋद्धिधारी मुनि महाराज सुमेरू पर्वत पर, नन्दन वन में, सौमनस वन में या ढ़ाई द्वीप के किसी भी मेरु पर्वत पर जा सकते हैं किन्तु इस ढाई द्वीप के बाहर के क्षेत्र में नहीं जा सकते हैं।

यहाँ पर केवल दो अपवाद आते हैं–उपपाद और समुद्घात। इस पुष्करार्द्ध द्वीप के दूसरी ओर का कोई जीव मरण को प्राप्त करके अगर यहाँ मनुष्य गति में जन्म ले तो यह उसका उपपाद कहलाएगा। क्योंकि वहाँ से जीव मरण को प्राप्त करके विग्रह गति में आ रहा है तो इस अपेक्षा से भी वह मनुष्य कहलाएगा। क्योंकि मनुष्य गति नाम कर्म का उदय तो उसे वहीं हो जाता है जहाँ से वह

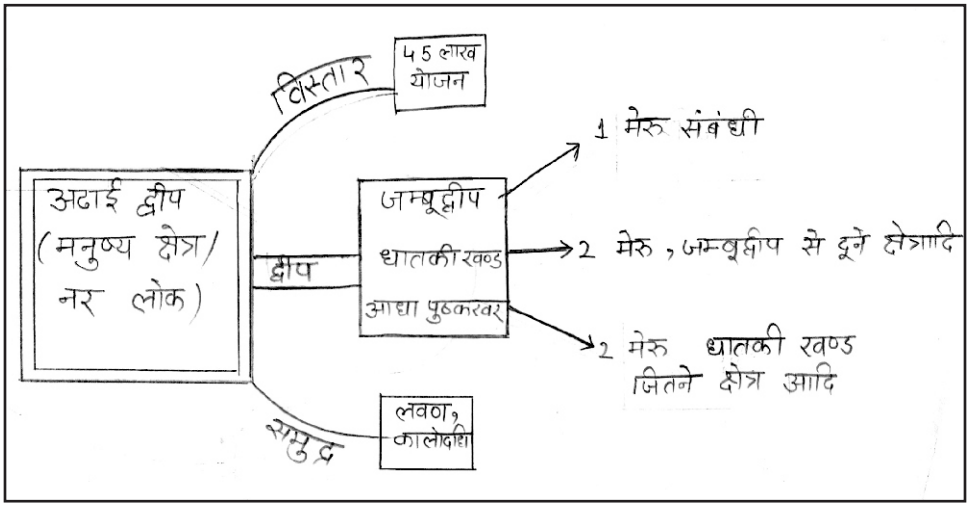

मरण करके आ रहा है तो इस अपेक्षा से तो वह वहाँ पर मनुष्य है। इसे ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि वह अभी मनुष्य नहीं बना है तो इसे उपपाद कहेंगे। यदि कोई जीव मारणान्तिक समुद्घात करे–तो जब मारणान्तिक समुद्घात होता है तो जिस स्थान पर उसका जन्म होना होता है उस

कुभोग भूमि

मनुष्य कैसे?

1. एक जाँघ वाले, एक टाँग वाले, पूँछ वाले, गूँगे, सींग वाले मनुष्य
2. खरगोश के समान, साँकल के समान लम्बे कान वाले, एक कान वाले (जिसे ओढ़ व बिछा भी लें) मनुष्य
3. घोड़े, सिंह, कुत्ता, बकरा, हाथी, गाय, मेढ़ा, मछली, भैंसा, सुअर, व्याघ्र, कौआ, बन्दर के समान मुख वाले मनुष्य
4. मेघ, बिजली, काल (मगर), दर्पण मुख वाले मनुष्य

अन्य विशेषता

1. गुफाओं में व पेड़ों पर रहते हैं।
2. मिट्टी का, फूलों का व फलों का आहार करते हैं।
3. सबकी आयु 1 पल्य है।

ढ़ाईद्वीप में कर्मभूमि एवं भोग भूमि

15 कर्म–भूमियाँ	**जहाँ असि, मसि, कृषि आदि कार्य हो** पाँच भरत – 5 पाँच ऐरावत – 5 पाँच विदेह – 5 **कुल – 15**
30 भोग–भूमियाँ	**जहाँ 10 प्रकार के कल्पवृक्षों से भोग सामग्री प्राप्त हो** जघन्य भोगभूमि – हैमवत एवं हैरण्यवत – 2×5=10 मध्यम भोगभूमि – हरि एवं रम्यक – 2×5=10 उत्कृष्ट भोगभूमि – देवकुरु एवं उत्तरकुरु – 2×5=10 **कुल – 30**

स्थान तक उसके आत्मप्रदेश छूते हुए चले जाते हैं इस अवस्था में भी उसके आत्मप्रदेश वहाँ पर रह सकते हैं लेकिन शरीर सहित कोई भी मनुष्य वहाँ नहीं जा सकता है। इस प्रकार जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्द्ध द्वीप में ही मनुष्य जानने चाहिए। जब भी कर्मभूमि का वर्णन किया जाता है तो उसमें यह सारी गणना की जाती है। जहाँ कहीं भी पंचपरमेष्ठी विराजमान हो उन सभी को मेरा नमस्कार हो। मुनि महाराज कहीं पर भी हो सकते हैं इन समुद्रों के बीच में भी हो सकते हैं। उपसर्ग केवलियों को केवलज्ञान कहीं भी हो सकता है। इस तरह यह पूरा क्षेत्र मनुष्य लोक भी कहलाता है।

मनुष्यों के भेद के विषय में आचार्य बताते हैं–

आर्या म्लेच्छाश्च।।36।।

अर्थ– मनुष्य दो प्रकार के होते हैं–1. आर्य 2. मलेच्छ।

आचार्य लिखते हैं–मनुष्य दो प्रकार के ही होते हैं। एक आर्य और दूसरे म्लेच्छ। आप सुनते हैं– 'जम्बूद्वीपे, भरतक्षेत्रे, आर्यखण्डे' जैसे यह आर्यखण्ड होता है वैसे ही म्लेच्छ खण्ड भी होता है। उन म्लेच्छखण्ड में भी मनुष्य रहते हैं। वहाँ पर धर्म–कर्म कुछ नहीं होता है। ऐसे म्लेच्छखण्ड में रहने वाले मनुष्यों को भी यहाँ पर गिना गया है।

आर्य—जो गुणों या गुणवालों के द्वारा मान्य हैं—वे आर्य कहलाते हैं। उनके दो भेद हैं— ऋद्धिप्राप्त आर्य और ऋद्धिरहित आर्य। ऋद्धिप्राप्त आर्य सात प्रकार के हैं—बुद्धि, विक्रिया, तप, बल, औषध, रस और अक्षीणऋद्धि। ऋद्धिरहित आर्य पाँच प्रकार के हैं—क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कर्मार्य, चारित्रार्य और दर्शनार्य।

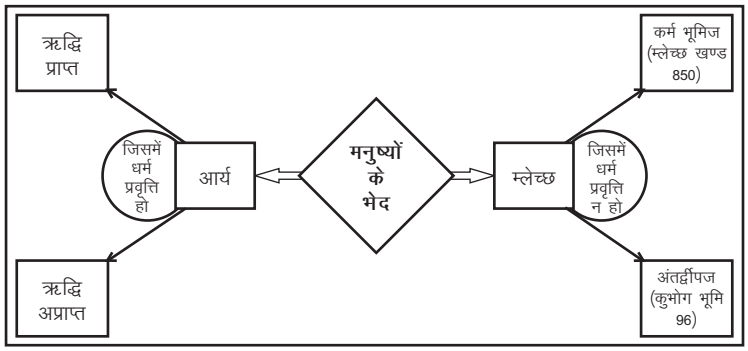

मलेच्छ—मलेच्छ दो प्रकार के हैं—अन्तर्द्वीपज मलेच्छ और कर्मभूमिज मलेच्छ। लवणसमुद्र के भीतर आठों दिशाओं व विदिशाओं में आठ अन्तर्द्वीप हैं और उनके अन्तराल में आठ अन्तर्द्वीप और हैं। हिमवान और शिखरी इन दोनों पर्वतों के अन्त में और दोनों विजयार्ध पर्वतों के अन्त में आठ अन्तर्द्वीप हैं। इनमें से जो दिशाओं में द्वीप हैं वे वेदिका से तिरछे पाँचसौ योजन भीतर जाकर हैं और उनका विस्तार सौ योजन है। विदिशाओं और अन्तरालों में जो द्वीप हैं पाँचसौ पचास योजन भीतर हैं और उनका विस्तार पचास योजन है। पर्वतों के अन्त में जो द्वीप हैं वे छहसौ योजन भीतर जाकर हैं और उनका विस्तार पच्चीस योजन है। इन द्वीपों में एक टांगवाले, पूंछवाले, गूंगे, सींगवाले, खरगोश के समान कानवाले, सिंह,भैंसा, सुअर आदि के समान मुख वाले मनुष्य रहते हैं। इनमें से एक टांगवाले मनुष्य गुफाओं में निवास करते हैं और मिट्टी का आहार करते हैं तथा शेष मनुष्य फूलों और फलों का आहार करते हैं और पेड़ों पर रहते हैं। इन सबकी आयु एक पल्योपम है। ये चौबीसों अन्तर्द्वीप जल की सतह से एक योजन ऊँचे हैं। इसी प्रकार कालोदधि में भी जानना चाहिए। ये सब अन्तर्द्वीपज मलेच्छ हैं। इनसे अतिरिक्त जो शक, यवन, शबर और पुलिन्दादिक हैं वे सब कर्मभूमिज मलेच्छ हैं।

ध्यान रखने योग्य है कि भोगभूमि का दूसरा नाम अकर्मभूमि है। भोगभूमि का एक भेद कुभोगभूमि भी है। उसमें जन्म लेने वाले ही अन्तर्द्वीपज मलेच्छ कहे गये हैं। अकर्मभूमिज आर्य और मलेच्छों के अविरत सम्यग्दृष्टि तक चार गुणस्थान हो सकते हैं किन्तु कर्मभूमिज आर्य और मलेच्छ अणुव्रत और महाव्रत के भी अधिकारी हैं।

म्लेच्छखण्ड आर्यखण्ड से अलग ही है। वर्तमान के विदेशों को म्लेच्छखण्ड न समझें। ये सब तो आर्यखण्ड के ही हिस्से थे और हैं। जिसे हम आज दक्षिण—पूर्व एशिया के नाम से जान रहे हैं, वह ही वास्तव में प्राचीनकालीन 'महाभारत' था जो अपने समय में विकसित था। पुरातात्विक साक्ष्य और

प्राचीन जैन मंदिरों में सिद्धशिला

जर्मन पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार 700 ई.पू. या उसके पूर्व
यह सिद्धशिला के मंदिरों से प्राप्त येहा, इथियोपिया (अफ्रीका)

Sidhashila Yeha Ethiopia (Africa)

सिद्धशिला येहा, अल्माका इथियोपिया (अफ्रीका)

→ 11 deities (as per Indus Valley seals

→ Fish's eyes = enlighten
Siddhi (imagined reading and
imagine on the Indus symbols)

य अ क ग हु स (early pra
सज्ञक / याजक गृहस्य)
→ of the house of priest time
– 1000 P.O.C. phoenician script)

Writing belonging to 1300 P.O.C.
with yamanese script
अ ह न – क ल (स)

SIDDHA SHILA found in (trilok) frontal of the Three Heavenly World,
which is a Symbol of the Complete Salvation among Jain Monks;
where human soul resides feely forever in the form of a sculpture.
It is the most sacred symbol of Jainism. It is found in the
AQAH TEMPLE AND ADI AKAWEH, CHURCH OF ABBA GEVINA, ETHIOPIA (AFRICA)

साहित्य के आधार पर आज भी जैन धर्म का इतिहास 4500 वर्ष प्राचीन सिद्ध होता है। भारत में बनी मूतियों को यहाँ के शासक इंडोनेशिया, थाईलैंड, कंबोडिया आदि देशों में ले गए थे। इंडोनशिया का बोरोबुदूर, कंबोडिया का अंगकोरवाट और अंगकोरथोम और मेक्सिको के युकाटन प्रायद्वीप में बने नंदीश्वर द्वीप, समवशरण मंदिर, पंचमेरु मंदिर आदि आज भी भारत के बाहर जैन संस्कृति की

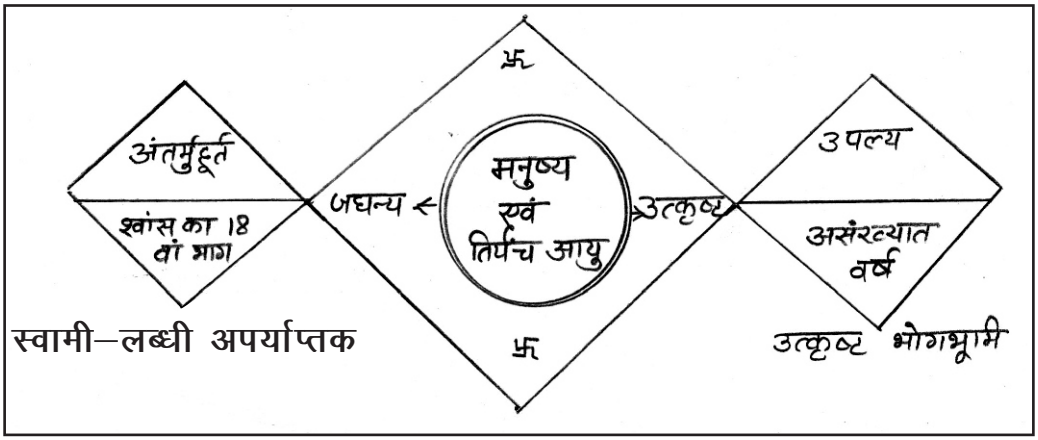

गौरवगाथा गा रहे हैं। विदेशों में जैन धर्म, भारत के बाहर जैन पुरातत्त्व आदि पुस्तकें पठनीय हैं। अभी–अभी श्रीलंका में 'अभयगिरि' की खोज हुई है जिसका सम्बन्ध भगवान नेमिनाथ के अभयदान से प्रसिद्ध है। इसी तरह इथियोपिया (अफ्रीका) में सिद्धशिला की आकृति प्राप्त हुई है जोकि जर्मन पुरातत्त्व वेत्ताओं के अनुसार ई.पू. 700 और उससे भी पहले की मानी गई है।

कर्मभूमि का वर्णन करते हुए आचार्य बताते हैं–

भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरुत्तरकुरुभ्यः ।।37।।

तिर्यंचों की आयु - विशेष

जीव	उत्कृष्ट आयु	जीव	उत्कृष्ट आयु
मृदु(शुद्ध) पृथ्वीकायिक	12000 वर्ष	तीन इन्द्रिय	49 दिन
कठोर पृथ्वीकायिक	22000 वर्ष	चार इन्द्रिय	6 मास
जलकायिक	7000 वर्ष	पंचेन्द्रिय जलचर	1 कोटि पूर्व
वायुकायिक	3000 वर्ष	सरीसर्प (रेंगने वाले पशु)	9 पूर्वांग
अग्निकायिक	3 दिन	सर्प	42000 वर्ष
वनस्पतिकायिक	10000 वर्ष	पक्षी	72000 वर्ष
दो इन्द्रिय	12 वर्ष	चौपाये पशु	3 पल्य
सभी की जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त है।			

अर्थ– पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच भरत, पाँच ऐरावत और देवकुरू और उत्तरकुरू को छोड़कर पाँच विदेह, इस तरह अढ़ाई द्वीप में पन्द्रह कर्मभूमियाँ हैं।

भरत और ऐरावत कर्मभूमियाँ हैं। पाँच मेरु अढ़ाई द्वीप में हैं। एक मेरु सम्बन्धी एक भरत, एक ऐरावत और एक विदेह होता है। इसलिए पाँच मेरु सम्बन्धी पाँच भरत, पाँच ऐरावत और पाँच विदेह ये 15 कर्म भूमियाँ होती हैं। सूत्र में देवकुरु और उत्तरकुरु को छोड़कर–ऐसा कहा है सो इसलिए कहा है कि देवकुरु और उत्तरकुरु उत्कृष्ट भोगभूमि हैं। भोगभूमियाँ 30 हैं तथा अन्तर्द्वीप भी कुभोगभूमि कहलाते हैं। एक मेरु सम्बन्धी देवकुरू, उत्तरकुरू, हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत ये 6 भोगभूमि हैं तो पाँच मेरु सम्बन्धी 30 भोग–भूमियाँ होती हैं। देवकुरू, उत्तरकुरू ये दोनों भोगभूमि विदेह क्षेत्र से ही लगती हुई हैं परन्तु इनको कर्मभूमि में ग्रहण नहीं करना है।

मनुष्यों की आयु के विषय में आचार्य कहते हैं–

नृस्थिति परावरे त्रिपल्योपमान्तर्मुहूर्ते ।।38।।

अर्थ– मनुष्यों की परा–उत्कृष्ट स्थिति (आयु) तीन पल्य और अवर–जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त है।

मनुष्यों की आयु के विषय में शिष्य प्रश्न करता है कि मनुष्यों की अधिकतम एवं जघन्य आयु कितनी होती है?चाहे कर्मभूमि के मनुष्य हों या भोगभूमि के मनुष्य हों उन सभी मनुष्यों की आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–विदेह क्षेत्र में रहने वाले कर्मभूमि के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु एक कोटि पूर्व की होती है। भोगभूमि के मनुष्यों की उत्कृष्ट आयु तीन पल्य की होती है। उनकी जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है। अन्तर्मुहूर्त 48 मिनट का होता है। अन्तर्मुहूर्त के अंदर उनका मरण भी हो सकता है। साठ–सत्तर वर्ष आदि यह सब उनकी मध्यम आयु कहलाएगी।

पल्य तीन प्रकार का है–व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य। ये तीनों सार्थक नाम हैं। आदि के पल्य को व्यवहारपल्य कहते हैं, क्योंकि वह आगे के दो पल्यों के व्यवहार का मूल है। दूसरा उद्धारपल्य है। उद्धारपल्य में से निकाले गये लोम के छेदों के द्वारा द्वीप और समुद्रों की गिनती की जाती है। तीसरा अद्धापल्य है। अद्धा और कालस्थिति ये एकार्थवाची शब्द हैं। प्रथम पल्य का प्रमाण इस प्रकार है–प्रमाणांगुल की गणना से एक–एक योजन लम्बे, चौड़े और गहरे तीन गड्ढ़े करो और इनमें से एक गड्ढ़े में–एक दिन से लेकर सात दिन तक के पैदा हुए मेढ़े के रोमों के अग्र भागों को ऐसे टुकड़े करके भरो जिनके कैंची से दूसरे टुकड़े न किये जा सकें। अनन्तर सौ–सौ वर्ष में रोम का एक–एक टुकड़ा निकालो। इस विधि से जितने काल में वह गड्ढ़ा खाली हो वह सब काल व्यवहारपल्योपम नाम से कहा जाता है।

अनन्तर–असंख्यात करोड़ वर्षों के जितने समय हों उतने उन लोमच्छेदों में से प्रत्येक खण्ड करके उनसे दूसरे गड्ढ़े के भरने पर उद्धारपल्य होता है। इसमें से प्रत्येक समय में एक–एक रोम को निकालते हुए जितने काल में वह गर्त खाली हो जाये उतने काल का नाम उद्धारपल्योपम है। इन दस कोड़ाकोड़ी उद्धारपल्यों का एक उद्धार सागरोपम काल होता है। तथा ढ़ाई उद्धार सागर के जितने रोमखण्ड हों उतने सब द्वीप और समुद्र हैं। अनन्तर सौ वर्ष के जितने समय हों उतने उद्धारपल्य के रोमखण्डों में से प्रत्येक के खण्ड करके और उनसे तीसरे गड्ढ़े के भरने पर एक अद्धापल्य होता है। इनमें से प्रत्येक समय में एक–एक रोम के निकालने पर जितने समय में वह गड्ढ़ा खाली हो जाये उतने काल का नाम अद्धापल्योपम है। ऐसे दस कोड़ाकोड़ी अद्धापल्यों का एक अद्धासागर होता है। दस कोड़ाकोड़ी अद्धासागरों का एक अवसर्पिणी काल होता है और उत्सर्पिणी काल भी इतना ही बड़ा होता है।

इस अद्धापल्य के द्वारा नारकी, तिर्यंच, देव और मनुष्यों की कर्मस्थिति, भवस्थिति, आयुस्थिति और कायस्थिति की गणना करनी चहिए।

तिर्यंचों की आयु का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं–

तिर्यग्योनिजानां च।।39।।

अर्थ– तिर्यंचों की भी उत्कृष्ट आयु और जघन्य आयु क्रम से तीन पल्य और अन्तर्मुहूर्त की है। मध्यम आयु के अनेक विकल्प है।

तिर्यंचों की आयु भी आप इसी तरह से जान लेना। तिर्यंचों की भी उत्कृष्ट स्थिति तीन पल्य की और जघन्य आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है। स्थिति दो प्रकार की होती है–भवस्थिति और कायस्थिति। एक पर्याय में रहने में जितना काल लगे वह भवस्थिति है। तथा विवक्षित पर्याय के अतिरिक्त अन्य पर्याय में उत्पन्न न होकर पुनः–पुनः उसी पर्याय में निरन्तर उत्पन्न होने से जो स्थिति प्राप्त होती है वह कायस्थिति है। यहाँ मनुष्यों और तिर्यंचों की भवस्थिति कही गई है इनकी जघन्य कायस्थिति जघन्य भवस्थिति प्रमाण है, क्योंकि एक बार जघन्य आयु के साथ भव पाकर उसका अन्य पर्याय में जाना सम्भव है। मनुष्यों की उत्कृष्ट कायस्थिति पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है। पृथक्त्व एक रौढ़िक

तीन लोक के अकृत्रिम चैत्यालय

लोक का नाम	अकृत्रिम चैत्यालय
अधोलोक	7,72,00,000
ऊर्ध्वलोक	84,97,023
मध्यलोक	458
कुल	**8,56,97,481**

त्रिकाल चौबीसी

5 भरत	5	
5 ऐरावत	+ 5 = 10	
भूत, भविष्यत एवं वर्तमान सम्बन्धी		× 3 = 30
चौबीस तीर्थंकर		× 24
अढ़ाई द्वीप की त्रिकाल चौबीसी		**= 720**

मध्यलोक के 458 अकृत्रिम चैत्यालय

एक मेरू सम्बन्धी चैत्यालय

मेरु पर	16
कुलाचल	6
गजवंत	4
विजयार्द्ध	34
वक्षारगिरि	16
जम्बूवृक्ष	1
शाल्मली वृक्ष	1
कुल	**78**
पंच मेरु के	**× 5**
	390
पंचमेरु सम्बन्धी	390
इष्वाकार पर्वत	4
मानुषोत्तर पर्वत	4
नन्दीश्वर द्वीप	52
कुण्डलवर द्वीप (11वाँ द्वीप)	4
रुचिकवर द्वीप (13वाँ द्वीप)	4
कुल	**458**

संज्ञा है जिसका अर्थ तीन से ऊपर और नौ से नीचे होता है। तिर्यंचों की उत्कृष्ट कायस्थिति अनन्तकाल है जो असंख्यात पुद्गल परिवर्तनों के बराबर है। यह तिर्यंचगति सामान्य की अपेक्षा उनकी कायस्थिति कही है। यदि अन्य गति से आकर कोई जीव निरन्तर तिर्यंचगति में परिभ्रमण करता रहता है तो अधिक से अधिक इतने काल तक वह तिर्यंचगति में रह सकता है। इसके बाद वह नियम से अन्य गति में जन्म लेता है। वैसे तिर्यंचों के अनेक भेद हैं, इसलिए उन भेदों की अपेक्षा उनकी कायस्थिति अलग–अलग है।

इस मध्यलोक (तिर्यक् लोक) में जहाँ आप बैठे हैं वहाँ के मनुष्यों और तिर्यंचों की व्यवस्थाओं का वर्णन इस अध्याय में किया गया है।

इस तृतीय अध्याय में सात–नरक, द्वीप, समुद्र, कुलाचल पर्वत, पद्म आदि सरोवर, गंगा आदि नदी, मनुष्यों के भेद, मनुष्य और तिर्यंचों की आयु का वर्णन किया गया है।

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः।

महावीर भगवान की जय।

मुनि श्री 108 प्रणम्य सागर जी महाराज की जय।

अथ चतुर्थोऽध्यायः

इस चतुर्थ अध्याय में मुख्य रूप से ऊर्ध्वलोक की विवेचना की गई है। इसे हम 'जैन खगोल' भी कह सकते हैं। इसे ही हम 'अंतरिक्ष विज्ञान' भी कह सकते हैं अथवा इसे हम जैन Astronomy भी कह सकते हैं। इस अध्याय के माध्यम से ऊर्ध्वलोक में रहने वाले जीवों (देवों) के विषय में विशेष–रूप से वर्णन किया गया है।

देवों का वर्णन करते हुए आचार्य बताते हैं–

देवाश्चतुर्णिकायाः।।1।।

अर्थ– देवों के चार निकाय हैं–भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक।

आचार्य कहते हैं–देव चार निकाय वाले होते हैं। निकाय का अर्थ–समूह होता है। अर्थात् देवों के चार समूह होते हैं। अथवा देवों को चार भागों में विभाजित किया गया है। इनकी व्याख्या करते हुए आचार्य कहते हैं, "देवगतिनामकर्मोदये सत्यभ्यन्तरे हेतौ बाह्यविभूति–विशेषैः द्वीपाद्रिसमुद्रादिप्रदेशेषु यथेष्टं दीव्यन्ति क्रीडन्तीति देवाः।"

शिष्य पूछते हैं–देव कौन होते हैं?और कौन बनते हैं?इसका उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि इसके दो कारण हैं। देव बनने का एक भीतरी कारण होता है और एक बाहरी कारण होता है। पहला है–देवगति नामकर्म के उदय के कारण वे देव बने हुए हैं। कर्म के उदय से अनेक प्रकार की विभूतियाँ होती हैं। विभूति का अर्थ अनेक प्रकार का बाहरी वैभव होता है। उस वैभव से युक्त होकर वे क्या करते रहते हैं?आचार्य कहते हैं–द्वीपों में, समुद्रों में, प्रदेशों में अपनी इच्छानुसार जो क्रीडा करते हैं, वे देव कहलाते हैं। ऐसे देवों के चार भेद हैं। यहाँ एकवचन का निर्देश इसलिए नहीं किया क्योंकि देवों के जो भेद है वे बहुत सारे हैं इसलिए यहाँ 'देवाः' बहुवचन कहा गया है। वे भेद कौन–कौन से होते हैं?आचार्य बताते हैं–, "इन्द्रसामानिकादयो बहवो भेदाः सन्ति स्थित्यादिकृताश्च तत्सूचनार्थः।"

जिसमें अनेक प्रकार का बहुलपना है। जैसे–उनके यहाँ पर इन्द्र होते हैं, सामानिक होते हैं, अन्य अनेक भेद–प्रभेद हैं, स्थितियाँ–अर्थात् जिनकी आयु अनेक प्रकार की है, ऐसे ये देव अलग–अलग प्रकार से चार श्रेणी के होते है। इनमें पहले भवनवासी देव, दूसरे व्यन्तर देव, तीसरे ज्योतिष्क देव और चौथे वैमानिक देव कहलाते हैं। इन देवों का वर्णन इस अध्याय में किया जा रहा है। आचार्य बताते हैं–जो देव जहाँ उत्पन्न होगा वह उसी निकाय वाला देव कहलाएगा, जो व्यन्तर–जाति में उत्पन्न होगा वह व्यन्तर–देव कहलाएगा, जो ज्योतिष्कों की जाति में उत्पन्न होगा वह ज्योतिष्क–देव और जो वैमानिकों की जाति में उत्पन्न होगा वह वैमानिक–देव कहलाएगा।

आगे के सूत्र में आचार्य बताते हैं–इन देवों में परिणाम कैसे होते हैं?अपने परिणाम मापने का मानो एक फीता है, जिसे जैन–दर्शन में लेश्या कहा जाता है। लेश्या का अर्थ होता है–अपने भावों को मापना। अपने परिणाम कैसे चल रहे हैं ?इसे आचार्य ने छह लेश्याओं के माध्यम से कहा है। छह लेश्याओं में तीन लेश्याएँ शुभ होती है और तीन अशुभ होती हैं। शुभ लेश्याओं के नाम हैं–पीत लेश्या, पद्म लेश्या और शुक्ल लेश्या। अशुभ लेश्याओं के नाम हैं–कृष्ण लेश्या, नील लेश्या और कापोत लेश्या। लेश्या का अर्थ, एक प्रकार से रंग होता है और रंगों के आधार पर परिणामों का विभाजन किया गया है। कृष्ण का अर्थ होता है काला, काले रंग के परिणाम। कहने में आ जाता है कि यह काले–दिल वाला है अर्थात् इसके परिणाम अच्छे नहीं हैं या कलुषित हैं। उसी कलुषता में जब थोड़ी–सी कमी आ जाती है तो नील लेश्या बन जाती है। उसमें काले रंग से कम कलुषता होगी वह नील लेश्या के परिणाम वाला कहलाएगा। उससे भी कम कलुषता होगी तो वह कापोत लेश्या कहलाएगी। कापोत का अर्थ होता है–कबूतर, जो हल्के ग्रे रंग का होता है। इस प्रकार ये तीनों अशुभ लेश्याएं हैं। अशुभ में इन तीनों की Quality (गुणवत्ता) अलग–अलग है। जो शुभ लेश्याएं होती हैं उनमें सबसे पहले पीत लेश्या है–पीत का अर्थ होता है–पीला। यह पीले रंग की लेश्या होती है। यह शुभ की प्रतीक है। इससे मंगल होने लग जाता है। इसमें पीले रंग के अर्थात् केशरिया भाव होने लग जाते हैं। पद्म लेश्या में लाल रंग की ओर बढ़ने लगते हैं। पद्म का अर्थ होता है–कमल। इसमें पद्म के समान लाल रंग के उजले परिणाम होने लग जाते हैं। शुक्ल लेश्या में स्वच्छ, निर्मल एवं उज्ज्वल परिणाम होने लग जाते हैं। सभी जीवों में छह प्रकार की लेश्याओं में से कोई न कोई लेश्या अवश्य होती है। ये लेश्याएं परिवर्तित भी हो जाती हैं।

उदाहरण के लिए जैसे–आप मंदिर जी में बैठे हैं तो उस समय शुभ लेश्याओं में से कम से कम पीत लेश्या अवश्य होगी। बाहर निकलेंगे तो यह लेश्या तुरन्त परिवर्तित भी हो सकती है। कृष्ण भी हो सकती हैं, नील भी हो सकती है और कापोत भी हो सकती है। जितने हमारे भावों में क्रूरता रहेगी, कलुषता रहेगी या हम किसी को छल–कपट आदि के द्वारा परेशान करने के भाव रखेंगे, उतनी ही हमारी लेश्या या हमारे परिणाम बिगड़ जाएंगे। इसका पता आपको लगेगा या भगवान को लगेगा। आपको लगेगा–पहले हमारे परिणाम कितने निर्मल थे और हमारी लेश्या बिगड़ जाती है। जैसे–मंदिर में आप निराकुल रहते हो, आपके परिणाम अच्छे बने रहते हैं तो आपकी लेश्या–पीत बनी रहती है। जब आप किसी को धोखा देने के बारे में सोचने लग जाते हैं,तो आपकी लेश्या बिगड़ जाती है। जीवन के प्रत्येक क्षण में ये लेश्याएँ बदलती रहती हैं। इन लेश्याओं को समझाने के लिए मंदिरों में चित्र भी बने रहते है। जिसे 'लेश्यावृक्ष' कहते हैं। आचार्य एक दृष्टान्त द्वारा लेश्याओं के विषय में कहते हैं–

छह मनुष्य घूमने जा रहे थे। रास्ते में उन्हें एक वृक्ष दिखाई दिया। उस वृक्ष पर अच्छे फल लगे हुए थे। उस वृक्ष को देखकर उन मनुष्यों के परिणाम कैसे होते हैं?उन परिणामों के आधार पर उनकी लेश्याओं का निर्धारण किया गया है। एक व्यक्ति के मन में आया कि मुझे बहुत तेज भूख लगी है और ये बहुत अच्छे फल हैं, मुझे इन्हें खाना है। उन फलों को खाने के लिए उसके मन में

षट्-लेश्या दर्शन

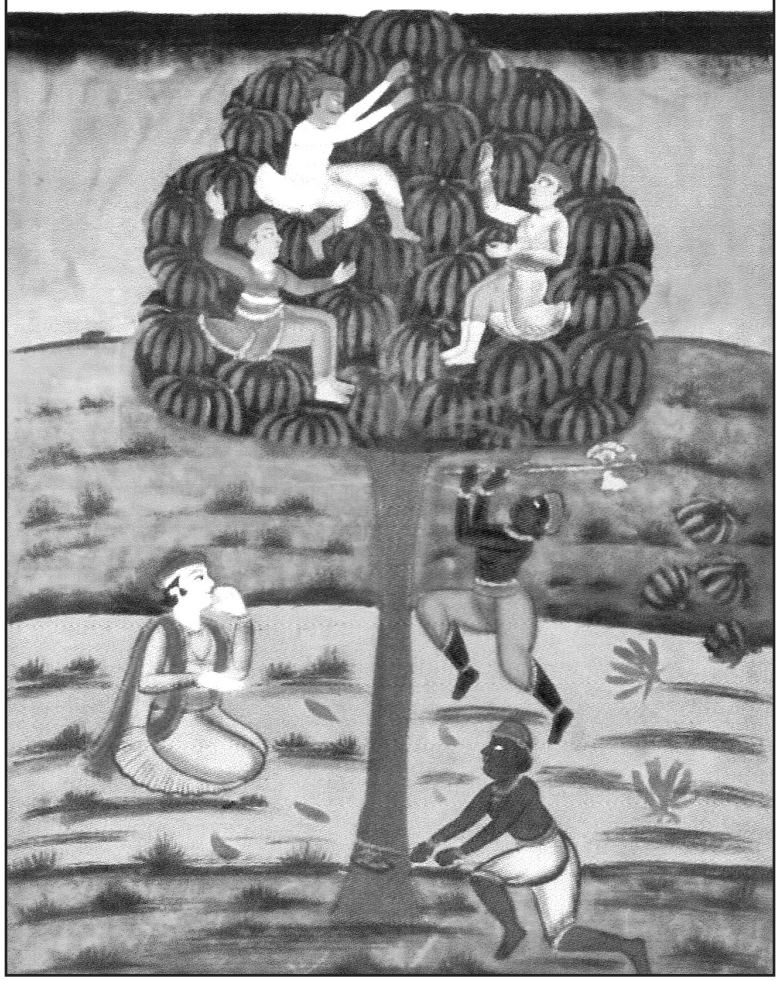

विचार आता है कि मैं इस पूरे वृक्ष को ही धराशाही कर देता हूँ। पूरा वृक्ष जब टूट जाएगा तो मैं इसके फलों को आराम से खाता रहूँगा। इस तरह पहले व्यक्ति के मन में विचार आता है कि मुझे वृक्ष को जड़मूल से ही काट देना है। यह कृष्ण–लेश्या के परिणाम हो गए।

दूसरे व्यक्ति के मन में विचार आता है कि वृक्ष को खड़ा रहने दो उसे काटने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसका जो ऊपरी स्कन्ध है, वहाँ से इसे काट देता हूँ। उसने जड़मूल से काटने की जगह स्कन्ध से काटने की बात सोची और उन फलों को खाने का विचार किया। इस तरह यह नील–लेश्या के परिणाम हो गए।

तीसरे व्यक्ति के मन में आता है कि स्कन्ध काटने का कोई लाभ नहीं है। यह डाली जहाँ से निकल रही है मैं इसको वहीं से काट देता हूँ। इस तरह उस पूरी डाली के फल मुझे मिल जाएंगे और मैं उन्हें खा लूँगा। यह परिणाम कापोत–लेश्या के हो गए।

चौथा व्यक्ति सोचता है कि डाली तो बहुत बड़ी है। जिन शाखाओं में फल निकल रहे हैं मैं केवल उतनी ही शाखाओं को काटूँगा। उसमें जितने फल मिलेंगे उन फलों को खाकर अपना जीवन यापन कर लूँगा। यह पीत–लेश्या का परिणाम हो गया। केवल ऊपर की डाली को काट रहा है। वह न डाली को काट रहा है, न स्कन्ध को काट रहा है और न ही जड़मूल से काट रहा है।

पाँचवी लेश्या वाला सोचता है कि इस डाली को काटने से क्या लाभ होगा? हमें तो केवल फल खाने हैं। इन फलों को तोड़–तोड़कर अपने पास रख लेता हूँ। इस तरह वह केवल फल तोड़ने की बात सोचता है। यह पद्म–लेश्या हो गई।

छठवां व्यक्ति सोचता है कि इन फलों को भी तोड़ने में क्या लाभ? जब ये फल पक जाएंगे तो स्वतः ही नीचे गिर जाएंगे और ये जब नीचे गिर जाएंगे तो हम उन्हीं को खाकर संतुष्ट हो जाएंगे। यह शुक्ल–लेश्या वाले व्यक्ति के परिणाम होते हैं। यह शुक्ल–लेश्या हो गई।

ये परिणाम सदैव ध्यान में रखने चाहिए। चाहे वह व्यापार करें, सर्विस करें, चाहे कोई वस्तु घर में लाएं, बनाएं, खायें। इन सभी में छह परिणाम हो सकते हैं।

इस विषय का हम कहीं पर भी प्रयोग कर सकते हैं। चाहे हमें घर में कोई व्यक्ति कुछ भी वस्तु लाकर दे रहा हो। इसमें भी हम अपनी लेश्या देख सकते हैं। कोई भी वस्तु हमें घर में मंगवानी होती है तो उसमें भी हम अपनी लेश्या को जान सकते हैं।

कई बार, कुछ व्यक्ति ऐसे भी देखने में आ जाते हैं कि किसी वस्तु को प्राप्त करने में किसी की हिंसा भी करनी पड़ जाये तो वे नहीं चूंकते हैं। आदमी आदमी को मार देता है। ऐसे परिणाम कृष्ण लेश्या वालों के होते हैं। आपने उस व्यक्ति को नहीं मारा परन्तु उसके हाथ–पैर तोड़ डाले। यह परिणाम नील लेश्या वाले व्यक्ति के होते हैं। आपने उस व्यक्ति के हाथ–पैर नहीं तोड़े किन्तु उसे इतना मारा कि उसके हाथ–पैर सूज गए। यह कापोत लेश्या के परिणाम होते हैं अथवा आपने उसे इतना भला–बुरा कहा कि वह घर जाने के विषय में भी सोचने लगा कि घर जाऊँ या नहीं।

पीत लेश्या के परिणाम में आपने विचार किया कि आपके घर की स्थिति क्या है?यह वस्तु हमारे घर में आ सकती है अथवा नहीं आ सकती है। आपके मन में आया यह वस्तु हमें लाकर देनी है लेकिन यह हमारे सामर्थ्य से बाहर है। सामर्थ्य से बाहर जब बात होती है तो व्यक्ति परेशान रहता है। कभी–कभी हम ऐसी माँग कर देते हैं जिससे सामने वाला व्यक्ति परेशान हो जाता है। ऐसे परिणाम पीत–लेश्या वाले व्यक्ति के होते हैं। क्योंकि इसे पूरा करने के लिए वह न तो किसी की हत्या कर रहा है, न किसी को दुखी रहा है और न ही मारपीट कर रहा है। पद्म–लेश्या के परिणाम वाला व्यक्ति सोचता है, हमारे पास जितना है उससे ही हम संतुष्ट हो जाएं। वह सोचता है कि अभी इतने से ही हमारा काम चल जाएगा। उदाहरण के रूप में यदि आपको एक कार खरीदनी है और कार तीन लाख से तीस लाख तक सभी तरह की आती हैं। आपने विचार किया–हमें तीस लाख की कार खरीदनी है और बजट है आपका, दस लाख का। तो यह हो गया पीत–लेश्या का परिणाम।

जब आपने ऐसा कहा कि अभी हम बाइक से ही काम चला लेंगे तो यह पद्म लेश्या का परिणाम हो गया। जब आपने सोचा अभी कार, बाइक की कोई आवश्यकता नहीं है, जब भगवान

देगा तब देख लेंगे तो यह आपके शुक्ल–लेश्या का परिणाम हो गया।

जो व्यक्ति शुभ लेश्या के परिणाम से रहेगा वह दूसरों को भी सुख देगा और स्वयं भी सुखी रहेगा। जैसे ही हमारी लेश्या बिगड़ेगी, हम स्वयं भी दुःखी रहेंगे और दूसरों को भी दुःख ही देंगे। हमारे परिणाम जब और अधिक बिगड़ जाएंगे तो हम लोगों को मारने, काटने और उनकी हत्या करने पर भी उतर जाएंगे। इस तरह से छह लेश्याओं का विभाजन हमारे परिणामों पर निर्भर करता है। लेश्याएं गुणस्थानों के अनुसार भी होती है। जैसे–ऊपर के जितने भी सम्यग्दृष्टि आदि जीवों के गुणस्थान होते हैं उनमें सम्यग्दृष्टि जब गृहस्थ रहता है तो उसके पास छह लेश्याएं हो सकती है। मिथ्यादृष्टि के पास भी छह लेश्याएं हो सकती है। क्योंकि लेश्याओं का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं हैं। लेश्याओं का परिणाम से सम्बन्ध है। जैसे संतुष्ट व्यक्ति है तो उसकी लेश्या शुभ होगी। ऐसा जरूरी नहीं है कि जैन व्यक्ति ही संतुष्ट हो। कई ऐसे अजैन व्यक्ति होते हैं जो संतुष्ट रहते हैं। अब तो जैन लोग असंतुष्ट होने लगे हैं। ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनके पास पैसा बहुत है फिर भी एक छोटे से कमरे में रहते हैं। यह शुक्ल लेश्या के परिणाम होते हैं। एक व्यक्ति के विषय में सुनने में आया है कि उसने अपने चालीस वर्ष फिल्मी दुनिया में व्यतीत कर दिये और उसके बाद हिमालय के बहुत भीतरी गाँव में चला गया। जहाँ उसे किसी से कोई मतलब नहीं है और न किसी भी प्रकार का मोबाइल, फोन आदि प्रयोग करता है। वहाँ एक कमरे में रहता है, खेतीबाड़ी करता है। तो यह क्या हो गया?यह शुभ लेश्या का परिणाम हो गया।

इस तरह से यह परिणाम सम्यग्दृष्टि–मिथ्यादृष्टि, धर्म–अधर्म किसी से सम्बन्धित नहीं है। जैसे शाकाहार के विषय में–ऐसे कई अजैन लोग हैं जो माँस नहीं खाते हैं और न रात में खाते हैं। उनके शुभ लेश्या के परिणाम हुए। हमें यह नहीं सोचना है कि आचार्यों ने जो व्यवस्था दी है वह केवल जैनों के लिए दी है। हमारी बुद्धि में सबसे पहले यही आता है जो हम कर रहे हैं वह शुभ है और बाकी सब अशुभ है। संसार में कई व्यक्ति ऐसे हैं जो मंदिर नहीं आते हैं फिर भी, उनके परिणाम शुभ हैं। बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो मंदिर जी में भी क्लेश करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि परिणामों का धर्म या अधर्म से सम्बन्ध नहीं है। परिणाम, मंदिर में आने से और अधिक शुभ होते हैं। इन शुभ परिणामों के लिए ही मंदिर जी में आया जाता है। यदि यह ध्यान में न रखा जाए तो हम अपनी मलिनताओं के कारण अपने परिणामों को अशुभ बना सकते हैं। इस तरह चौथे गुणस्थान तक छह लेश्याएं होती हैं। जैसे ही आप व्रत ग्रहण कर लेते हैं। एक या दो प्रतिमाओं को धारण कर लेते हैं तो आचार्य कहते हैं–जब आप व्रतों की पर्याय में जीने लग जाते हैं तो नियम से आपके शुभ लेश्या ही रहेगी। क्योंकि जब तक आपकी मनोवृत्ति किसी भी प्रकार के नियम (Criteria) में बंधी नहीं है तो उस समय तक आपकी लेश्या कभी भी बिगड़ सकती है। जब आप अपनी सीमा कर लेते हैं कि हमें इतनी ही हिंसा का काम करना है। इसके अतिरिक्त, हमें और हिंसा नहीं करनी है। हमें घर के कार्य से झूठ बोलना पड़ रहा है तो बोल दिया और अब हम इसके अतिरिक्त झूठ नहीं बोलेंगे। यहाँ झूठ

को प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा है। गृहस्थ जीवन में पाँच पाप हो जाते हैं लेकिन बड़े–बड़े नहीं होते हैं। व्यक्ति बड़े पाप का त्याग कर देता है और छोटे–छोटे पाप करता है तो भी वह व्रती कहलाता है। जिसे स्थूल अणुव्रत कहा जाता है। जैसे परिग्रह है, उसके बिना तो गृहस्थ रह ही नहीं सकता। यदि हमने उसकी एक निश्चित सीमा बना ली कि हमें इससे अधिक नहीं रखना है तो हम एक निश्चित सीमा में बंधकर अधिक पाप से बच जाते हैं।

जैसे–आपके पास तीन कोठियां हैं। आपने सीमा बना ली कि एक ही कोठी रखनी है, बाकी दो कोठियों से आपने अपना नाम हटा लिया। अब आपका उन पर कोई अधिकार नहीं है। तो इस तरह आप परिग्रह के बड़े पाप से बच जाएंगे। इसलिए व्रत लेने पर पीत या पद्म लेश्या के परिणाम बने रहते हैं। जब आप इस तरह के परिणाम रखेंगे तो आप कलह, कोर्ट के चक्कर, मुकदमें इत्यादि के झंझटों में स्वयं को नहीं डालोगे और आपके परिणाम या आपकी लेश्या शुभ ही बनी रहेंगी। इसलिए हमें प्रत्येक वस्तु की सीमा बना लेनी चाहिए। जिससे हमारे परिणाम शुभ रहें। यह हमारी प्रथम प्राथमिकता होनी चाहिए।

देवों की लेश्याओं के विषय में आचार्य कहते हैं–

आदितस्त्रिषु पीतान्तलेश्याः।।2।।

अर्थ– भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क इन प्रारम्भ के तीन निकायों में कृष्ण, नील, कापोत, पीत ये चार लेश्याएं होती हैं।

आचार्य कहते हैं–आदि से लेकर तीन निकायों (भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क) के देवों में पीत अन्त है जहाँ तक अर्थात् कृष्ण, नील, कापोत, पीत ये चार लेश्याएं होती हैं। यहाँ एक विशेषता और बताई गई है कि इन चार लेश्याओं में से तीन लेश्याएं उनकी अपर्याप्त अवस्था में होती है। अपर्याप्त का अर्थ होता है–जब वह जन्म ले रहा होता है। जन्म लेने के बाद वह पर्याप्त अवस्था में होता है। पर्याप्त होने के बाद नियम से उसकी पीत लेश्या ही होगी। लेकिन अपर्याप्त अवस्था में उसकी कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्याएं हो सकती हैं।

ऊर्ध्वलोक		
	कहाँ है	– मेरु की चूलिका से एक बाल ऊपर से लोक के शिखर तक
	आकार	– मृदंगाकार
	ऊँचाई	– 7 राजू सर्वत्र
	लम्बाई	– 7 राजू सर्वत्र
	चौड़ाई	– 3 राजू औसत (1+5) 2 = 3 राजू
	घनफल	– 147 घनराजू
	निवास	– ❖एकेन्द्रिय ❖वैमानिक देव ❖सिद्ध भगवान

शंका– पर्याप्त–अवस्था होने के पश्चात् यदि व्यंतर–देव उपद्रव आदि करते हैं तो क्या उनकी पीत लेश्या होगी?

समाधान– हाँ! ऐसा लगता तो है कि पर्याप्त अवस्था में होने के बाद वे उपद्रव या परेशान इत्यादि करते हैं। लेकिन उनकी वह लेश्या भी पीत लेश्या तक ही सीमित रहेगी। क्योंकि उनकी परेशान करने की आदत है, वह थोड़े समय के लिए ही रहती है। वे कषाय के ऐसे भाव नहीं करते कि हमें इसको मार डालना है या इसका कोई अनिष्ट करना है। उनके इस तरह के परिणाम नहीं होते हैं। प्रत्येक लेश्या के परिणाम असंख्यात–लोक–प्रमाण हैं। उन व्यन्तर देवों के अन्दर असंख्यात भाव होते हैं। उनके इस तरह के भाव निम्न स्तर वाले होते हैं। फिर भी, व्यन्तर देवों में पीत लेश्या बताई गई है।

अपर्याप्त–अवस्था में उनकी तीनों लेश्याएं हो सकती हैं जोकि पूर्व गति का परिणाम है। गति का प्रभाव भी होता है। वे जिस गति में जन्म लेंगे उनके परिणाम उसी गति के अनुरूप ही होंगे। जैसे–भोगभूमि के मनुष्य होते हैं उनके नियम से पीत लेश्या ही होती है, जो शुभ लेश्या होती है। यहाँ अपर्याप्त अवस्था में तीन लेश्याएं क्यों बन रही हैं?क्योंकि जो मनुष्य–गति से देव बन रहे हैं लेकिन मरण के समय संक्लेश के भाव हैं। उनके संक्लेश के परिणाम के कारण उनकी जो लेश्या थी वह मरण के पश्चात् भी उस स्थान तक जाती है जहाँ उनका जन्म होना है। अर्थात् यहाँ पर संक्लेश के साथ मरण हुआ तो अन्तर्मुहूर्त तक वह लेश्या क्लेश के साथ रहेगी और जैसे ही देव का शरीर बन जाएगा आपके भाव बदल जाएंगे और वह लेश्या पीत लेश्या बन जाएगी।

इन तीन निकायों में पीत लेश्या ही होती है, इनकी इससे उत्कृष्ट लेश्या नहीं हो पाती है। भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों को भवनत्रिक देव कहते हैं। 'छहढाला' में यह पंक्ति आती है–,"भवनत्रिक में सुर–तन धरे।" इनमें केवल पीत लेश्या ही पाई जाती है।

आगे के सूत्र में निकायों के भेद आचार्य बताते हैं–

दशाष्ट–पंच–द्वादशविकल्पाः कल्पोपपन्नपर्यन्ताः।। 3।।

अर्थ– कल्पोपन्न (सोलहवें स्वर्ग) पर्यन्त, उक्त चार प्रकार देवों (भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, वैमानिक) के क्रम से दस, आठ, पाँच और बारह भेद हैं।

यहाँ पर चारों निकायों के भेद बताए गए हैं। अर्थात् भवनवासी देवों के दस भेद होते हैं। व्यंतर देवों के अष्ट अर्थात् आठ भेद होते हैं। ज्योतिषी देवों के पाँच भेद होते हैं और वैमानिक देवों के द्वादश अर्थात् बारह, विकल्पाः =भेद होते हैं। कल्पोपन्न का अर्थ है–जो कल्प में उत्पन्न हो उन्हें कल्पोपन्न देव कहते हैं। स्वर्ग सोलह होते हैं लेकिन उनमें इन्द्रों की संख्या बारह होती है। प्रारम्भ के चार स्वर्गों के चार इन्द्र, फिर आठ स्वर्गों के चार इन्द्र और अन्तिम चार स्वर्गों के चार इन्द्र–इस तरह सोलह स्वर्गों की व्यवस्था बन जाती है। इसलिए यहाँ बारह विकल्प वाले कल्पोपन्न देव बताए गए

नाम	भवनवासी	व्यंतर	ज्योतिषी	वैमानिक
स्वरूप	जो भवनों में निवास करते हैं	जिनका नाना प्रकार के देशों में निवास है	जो ज्योतिर्मय विमानों में निवास करते हैं	जो विमानों में निवास करते हैं
भेद	10	8	5	12 (कल्पोपपन्न तक)
लोक	❖ अधोलोक ❖ मध्यलोक	❖ अधोलोक ❖ मध्यलोक	❖ मध्यलोक	❖ ऊर्ध्वलोक
प्रत्येक के सामान्य भेद (इन्द्र, सामानिक आदि)	10	8 (त्रायस्त्रिंश व लोकपाल को छोड़कर शेष सभी)	8 (त्रायस्त्रिंश व लोकपाल को छोड़कर शेष सभी)	10

हैं। कल्प शब्द से तात्पर्य है कि आगे के सूत्र में जो व्यवस्था बताई जा रही है वह व्यवस्था जहाँ तक बनी रहती है वे कल्पवाले देव कहलाते हैं।

आगे के सूत्र में चार प्रकार के देवों के सामान्य भेद आचार्य बताते हैं–

इन्द्र–सामानिक–त्रायस्त्रिंश–पारिषद्–आत्मरक्ष–लोकपालानीक–प्रकीर्णकाभियोग्य– किल्विषिकाश्चैकशः।। 4।।

अर्थ– प्रत्येक (चारों) वर्ग के देवों में इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष, लोकपाल, अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देव होते हैं।

पिछले सूत्र में जो चार प्रकार के देव बताए थे उन सभी में ये व्यवस्थाएं हैं। ये व्यवस्थाएँ इसलिए हैं जिस से सभी कार्यक्रम व्यवस्थित रूप से चलते रहें। सबसे पहले 'इन्द्र' का स्थान है। इन्द्र सभी देवों का मुखिया होता है। इन्द्र का अर्थ है–जो मुख्य हो। इन्द्र की आज्ञा सभी देव मानते हैं। क्योंकि आज्ञा देने का अधिकार एकमात्र इन्द्र को ही होता है। इन्द्र के साथ 'सामानिक' देव भी रहते हैं। सामानिक देव का अर्थ होता है–उसके पास समानताएं तो इन्द्र के समान होती हैं। जो आयु इन्द्र की है वही आयु सामानिक देव की होती है, जितना परिवार इन्द्र का है उतना ही परिवार सामानिक देवों का है। इसके अतिरिक्त बल, भोग, उपभोग आदि की जो सामग्री है वह सभी इन्द्रों के समान होगी लेकिन आज्ञा देने का अधिकार केवल इन्द्र के पास ही होता है। इसलिए आज्ञा को ही सबसे बड़ा ऐश्वर्य माना जाता है। उस आज्ञा को धारण करने वाले सामानिक देव नहीं होते है, शेष सभी कुछ इन सामानिक देवों में इन्द्र के समान होता है। जैसे–सभाएँ होती हैं और उन सभाओं

में अनेक प्रकार के राजा होते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी होते हैं जो गुरुतुल्य होते हैं, पिता–तुल्य होते हैं। इसी प्रकार ये सामानिक देव भी इन्द्र के बराबर माने जाते हैं, गुरुतुल्य माने जाते हैं और इनकी व्यवस्था भी इन्द्र के समान होती हैं।

भेद	दृष्टांत
इन्द्र	राजा
सामानिक	पिता, गुरु, उपाध्याय
त्रायस्त्रिंश	मंत्री, पुरोहित
पारिषद	सभा सदस्य (मित्र, परिजन)
आत्मरक्ष	अंगरक्षक
लोकपाल	कोतवाल
अनीक	सात प्रकार की सेना
प्रकीर्णक	नगरवासी
आभियोग्य	हाथी–घोड़ा आदि वाहन
किल्विषिक	चाण्डालादिक

तीसरे त्रायस्त्रिंश नाम के देव होते हैं। ये मंत्री और पुरोहित के तुल्य होते हैं। इनका कार्य सभा में विचार विमर्श करना, उन्हें सलाह देने का रहता है। ये संख्या में तैंतीस होते हैं इसलिए त्रायस्त्रिंश कहलाते हैं। इनका कार्य इन्द्र को सम्मति प्रदान करना है।

चौथे देव पारिषद होते हैं। पारिषद का अर्थ होता है–जो परिषद में बैठने वाले होते हैं। परिषद का अर्थ 'सभा' होता है। जैसे–आपके यहाँ मंत्रीपरिषद होती है उसके जो सदस्य होते हैं वे पारिषद कहलाते हैं। इसी तरह इन्द्र की सभा में जो स्नेहीजन है, मित्रजन हैं वे सभी पारिषद कहलाते हैं।

पाँचवे आत्मरक्ष कहलाते हैं। जो अंगरक्षक के समान होते हैं वे आत्मरक्ष कहलाते हैं। इन्द्र के साथ भी 'बॉडीगार्ड' हुआ करते है। यद्यपि इन्द्र को किसी भी प्रकार का भय नहीं होता, फिर भी उसकी शोभा को बढ़ाने के लिए ये देव होते हैं। आपने देखा होगा कि प्रधानमंत्री हो या मुख्यमंत्री हो, उनके आगे–पीछे बहुत सारे 'बॉडीगार्ड' रहते हैं, कमाण्डो होते हैं, आगे–पीछे बहुत सारी कारें चलती हैं। यह उनकी सुरक्षा भी है और उनका वैभव भी है। उसी तरह इन इन्द्रों के परिवार–देवों में भी अनेक प्रकार के ऐसे देव होते हैं और ये सभी अपने–अपने पुण्य, अलग–अलग गुण को धारण करने वाले होते हैं। देव बनने का अर्थ बहुत बड़ी उपलब्धि को प्राप्त कर लेना नहीं है। देवों में भी जो मुख्य रूप से विशेष पद को प्राप्त किये हुए हैं जैसे–इन्द्र हैं, सामानिक हैं, त्रायस्त्रिंश हैं, जो लोकपाल हैं ये सम्माननीय पद हैं। कुछ सामान्य पद भी है जैसे– पारिषद हैं। इनका कार्य केवल सभा में बैठना है और सुनना है, बाकी इनका कोई कार्य नहीं हैं। इन्द्र जैसी आज्ञा देगा 'वैसा कार्य करो' यही उन पारिषद जाति के देवों का कार्य होता है।

देवों के इस प्रसंग को पढ़कर आपके मन में एक भाव अवश्य आएगा कि देव बनने का अर्थ यह नहीं है कि सभी देव एक ही प्रकार के होते हैं और सभी का कार्य एक जैसा है। वहाँ पर भी ऐसी ही व्यवस्थाएं चलती हैं जैसी व्यवस्था आपके देश में चलती हैं। यहाँ की व्यवस्था और देवों की व्यवस्था में इतना अंतर जरूर है कि वहाँ पर किसी पद के लिए खींचातानी नहीं होती। वहाँ जो एक बार जिस पद पर आसीन हो गया तो जब तक उसकी आयु है वह उसी पद पर रहेगा। अपनी आयु पर्यन्त इन्द्र, इन्द्र ही रहेगा उसके लिए वोटिंग और सपोर्टिंग की आवश्यकता नहीं होती है। सभी देव उनको उसी रूप में स्वीकार करेंगे। यह स्वर्गों की एक विशेषता है और इस विशेषता के साथ आपको यह भी याद रखना है कि वहाँ पर जीवन–पर्यंत छोटी–जाति का देव छोटी–जाति का ही देव बना रहेगा। वहाँ पर उसका कोई प्रमोशन नहीं होगा। चाहे वह कितना भी प्रयास करे तब भी वहाँ का इन्द्र नहीं बन सकता। वह जिस पद को लेकर वहाँ पहुँचा है उसी पद पर उसे सम्पूर्ण जीवन गुजारना पड़ता है। यहाँ पर जो व्यवस्था है उसमें आप कभी भी अपना बहुमत सिद्ध करके उच्चपद को प्राप्त कर सकते हैं। किसी को भी कुर्सी से उतार सकते हैं और किसी को भी कुर्सी पर बैठा सकते हैं।

छठवें पद पर लोकपाल होते हैं। जो देव, कोतवालों के समान होते हैं वे लोकपाल कहलाते हैं। स्वर्ग की पूर्वादि चारों दिशाओं में क्रमशः सोम, यम, वरूण, कुबेर–ये चार देव कोतवाल के समान हैं, वे लोकपाल है। जैसे– यहाँ कोतवाल कुकर्म की प्रवृत्ति का निषेध करता है, उसी प्रकार वहाँ लोकपाल देव जानना चाहिए।

सातवें प्रकार के देव अनीक कहलाते हैं। ये देव सेना के रूप में होते हैं। जैसे यहाँ मिलेट्री में रहने वाले लोग होते हैं वैसे ही वहाँ पर ये अनीक–देव रहते हैं। वहाँ पर सात प्रकार की सेनाएँ रहती हैं। कुछ पैदल चलने वाले देव होते हैं, कुछ घोड़ों पर बैठने वाले भी देव होंगे, कुछ बैल पर बैठने वाले देव होंगे, कुछ रथ पर बैठने वाले देव होंगे, कुछ हाथी पर बैठने वाले देव होते हैं, उस सेना में कुछ गन्धर्व भी होते हैं (जो गाने और बजाने का कार्य करते हैं उन्हें गन्धर्व कहा जाता है) और उस सेना में नर्तकी भी होती हैं। इस तरह से यह सात प्रकार की देवों की सेना होती है।

आठवें प्रकार के देव प्रकीर्णक कहलाते हैं। यह सामान्य प्रकार के देव होते हैं। जैसे–आपके यहाँ गाँवों में, शहरों में जो प्रजा की तरह लोग रहते हैं ऐसे ही ये प्रकीर्णक जाति के देव कहलाते हैं। जो उन स्वर्गों में बसे रहते हैं।

नौंवे प्रकार के देव आभियोग्य जाति के देव होते हैं। इन देवों का कार्य वाहन चलाना होता है। ये देव या तो वाहन चलाते हैं या फिर स्वयं वाहन बन जाते हैं। अगर इन्द्र का मन बैल पर सवारी

करने का होगा तो ये ही आभियोग्य जाति के देव बैल का रूप धारण करेंगे। इन्द्र अपनी विक्रिया ऋद्धि से बैल नहीं बनाएगा। ये आभियोग्य जाति के देव ही बैल, हाथी अथवा अन्य–अन्य रूप को धारण करेंगे। इन आभियोग्य जाति के देवों को इन्द्र की दासता स्वीकार करनी पड़ेगी। ये देव बैल अथवा हाथी का रूप धारण करके इन्द्र को सवारी करायेंगे। इस तरह वहाँ दास के रूप में रहने वाले आभियोग्य जाति के देव हैं।

दसवें देव किल्विषिक जाति के देव होते हैं। ये देवों में निकृष्ट जाति के देव होते हैं। जिस तरह आपके शहर अथवा गाँव के बाहर लोग बसे रहते हैं उसी तरह वहाँ भी कुछ पाप बहुल जीव रहते हैं। जिनको सभा में प्रवेश नहीं करने दिया जाता है। किल्विषिक–जाति के देव इन्द्र की सभा में प्रवेश नहीं कर सकते। ये देव सभा के बाहर ही रहते हैं। किल्विष का अर्थ है–पाप। पाप के कारण ही उनको वह पर्याय मिलती है। यदि थोड़ा पुण्य कर लिया तो देव बन गए लेकिन उसमें पाप की बहुलता रही तो वे किल्विषिक जाति के देव बन जाते हैं।

इस तरह ये दस प्रकार की व्यवस्था स्वर्गों में बनी हुई है। इन दस प्रकार की व्यवस्था का नाम ही कल्प कहलाता है। कल्प का अर्थ है–कल्पना। दस प्रकार की व्यवस्था की जहाँ पर कल्पना की जाए उनको कल्पोपन्न देव कहते हैं। अर्थात् कल्पों में रहने वाले देवों को कल्पोपन्न देव कहते हैं।

च+एकशः–और एक–एक अर्थात् प्रत्येक निकाय में ये दस–दस प्रकार के देव होते हैं।

आगे सूत्र में इस नियम का अपवाद बताते हुए आचार्य कहते हैं–

त्रायस्त्रिंश–लोकपालवर्ज्या व्यन्तरज्योतिष्काः।।5।।

अर्थ– व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों में त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते। शेष आठ भेद ही होते हैं।

यहाँ व्यन्तर और ज्योतिष्क जाति के देवों की कुछ अलग व्यवस्था बताई जा रही है। इनमें दस प्रकार के देवों में से दो प्रकार के देव–त्रायस्त्रिंश और लोकपाल नहीं होते हैं। त्रायस्त्रिंश के बारे में पिछले सूत्र में बताया था कि ये सभा में तैंतीस ही होते हैं। जो मंत्री और पुरोहित की तरह होते हैं। लोकपाल जो कोतवाल के समान होते हैं, ये भी वहाँ पर नहीं होते हैं। ऐसा लगता है इन मंत्री और पुरोहित जैसे त्रायस्त्रिंश और लोकपाल जैसे पुण्यशाली जीवों की वहाँ पर आवश्यकता नहीं होती है। क्योंकि ये व्यंतर और ज्योतिष्क देव यहाँ–वहाँ घूमते रहते हैं।

आगे सूत्र में देवों में इन्द्रों की व्यवस्था बताते हुए आचार्य कहते हैं–

पूर्वयोर्द्विन्द्राः ।।6।।

अर्थ– भवनवासी और व्यन्तरों में प्रत्येक भेद के दो दो इन्द्र होते हैं।

100 इन्द्रों की व्यवस्था

नाम	भेद	प्रत्येक में इन्द्र	प्रत्येक में प्रतीन्द्र (राजकुमार तुल्य)	कुल इन्द्र एवं प्रतीन्द्र
भवनवासी	10	2	2	=10×2×2=40
व्यंतर	8	2	2	= 8×2×2=32
ज्योतिषी		चन्द्रमा	सूर्य	=2
वैमानिक	शुरू के 4 स्वर्ग = 4 इन्द्र बीच के 8 स्वर्ग = 4 इन्द्र अंत के 4 स्वर्ग = 4 इन्द्र			= 12 × 2 = 24 (इन्द्र + प्रतीन्द्र)
मनुष्य	चक्रवर्ती			1
तिर्यंच	सिंह			1
कुल इन्द्र				**= 100**

भवनवासी के दस भेदों में बीस इन्द्र और व्यन्तरों के आठ भेदों में सोलह इन्द्र होते हैं और इतने इतने ही प्रतीन्द्र होते हैं।

आचार्य कहते हैं–पूर्व के अर्थात् पहले के दो निकायों में, दो–दो इन्द्र होते हैं। अर्थात्–भवनवासी और व्यन्तर देवों के निकायों में एक इन्द्र से काम नहीं चलता तो उनके दो इन्द्र होते हैं। अर्थात् वहाँ दो इन्द्रों के माध्यम से उनकी सभा चलती है। पिछले सूत्र में बताया था कि भवनवासी देव दस प्रकार के होते हैं। इस तरह दस प्रकार के देवों में बीस इन्द्र होंगे। बीस ही वहाँ प्रतीन्द्र होंगे। वे भी इन्द्र के समान ही होते हैं। जैसे यहाँ अध्यक्ष और उपाध्यक्ष होते है वैसे ही वहाँ इन्द्र और प्रतीन्द्र होते हैं। इस तरह भवनवासियों के इन्द्र और प्रतीन्द्र मिलाकर चालीस इन्द्र हो जाते हैं।

भवनवासियों में असुरकुमारों के चमर और वैरोचन ये दो इन्द्र हैं। नागकुमारों के धरणानन्द और भूतानन्द ये दो इन्द्र हैं। विद्युत्कुमारों के हरिसिंह और हरिकान्त ये दो इन्द्र हैं। सुपर्णकुमारों के वेणुदेव और वेणुधारी ये दो इन्द्र हैं। अग्निकुमारों के अग्निशिख और अग्निमाणव ये दो इन्द्र हैं। वातकुमारों के वैलम्ब और प्रभंजन ये दो इन्द्र हैं। स्तनितकुमारों के सुघोष और महाघोष ये दो इन्द्र हैं। उदधिकुमारों के जलकान्त और जलप्रभ ये दो इन्द्र हैं। द्वीपकुमारों के पूर्ण और विशिष्ट ये दो इन्द्र हैं। दिक्कुमारों के अमितगति और अमितवाहन ये दो इन्द्र हैं।

इसी तरह व्यन्तरों में भी किन्नरों के किन्नर और किम्पुरुष ये दो इन्द्र हैं। किम्पुरुषों के सत्पुरुष और महापुरुष ये दो इन्द्र हैं। महोरगों के अतिकाय और महाकाय ये दो इन्द्र हैं। गन्धर्वों के गीतरति और गीतयश ये दो इन्द्र हैं। यक्षों के पूर्णभद्र और मणिभद्र ये दो इन्द्र हैं। राक्षसों के भीम और महाभीम ये दो इन्द्र हैं। भूतों के प्रतिरूप और अप्रतिरूप ये दो इन्द्र हैं। पिशाचों के काल और महाकाल ये दो इन्द्र हैं। इस प्रकार व्यन्तरों के आठ निकायों के सोलह इन्द्र और सोलह प्रतीन्द्र होते हैं। अतः व्यन्तरों के कुल मिलाकर बत्तीस इन्द्र हो जाते हैं।

देवों में काम सेवन के विषय में बताते हुए आचार्य कहते हैं–

कायप्रवीचारा आ ऐशानात् ।।7।।

अर्थ– ऐशान स्वर्ग तक के देव अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और सौधर्म व ऐशान स्वर्ग के देव मनुष्य और तिर्यंचों की भांति शरीर से काम सेवन करते है।

देवों में कामवासनात्मक सुख किस प्रकार का होता है?उसे बताने के लिए यह सूत्र आया है। यह एक सिद्धान्त ग्रन्थ हैं। सिद्धान्त ग्रन्थों में जब कभी भी मनुष्यों की, देवों की, नारकियों की बात आती है तब उन का यथावत् निरूपण किया जाता है। यहाँ पर देवों के सुख के विषय में बताया जा रहा है। उन्हें सुख किस प्रकार का मिलता है और कैसे मिलता है?संसार में दो ही अवस्था निरन्तर चलती रहती हैं। सुख और दुःख। स्वर्गों में सुख की प्रधानता रहती है और नरकों में दुःख की प्रधानता रहती है। दुःख के स्वरूप को बताने के लिए तृतीय अध्याय में कई सूत्र आए थे। वहाँ पर उनको जो दुःख मिलता है वह किस तरह का मिलता है?और कैसे मिलता है?बताया गया था।

सुख किस प्रकार का मिलता है?और कैसे मिलता है?तीसरे अध्याय में मनुष्यों के लिए भी कुछ बताया गया है कि यह पंचमकाल है अर्थात् दुःखमा काल है। इस काल में मनुष्यों को जो अनुभूत होता है तो वह केवल दुःख ही अनुभूत होता है। सुख जो हम मान रहे हैं वह वस्तुतः देवों में होता है। मनुष्य मान लेता है कि यह सुख उनको मिल रहा है, यह केवल उनकी मान्यता मात्र है। क्योंकि आपको पता नहीं है कि सुख कैसा होता है?क्योंकि सुख वस्तुतः इन्द्रियों का भी है जो अतिरेक के साथ में देवों को ही मिलता है। जब वह सुख उन देवों को मिलता है तो सभी इन्द्रियों से उत्पन्न हुआ उनका सुख ऐसा होता है कि उसमें किसी भी प्रकार के दुःख की कल्पना भी नहीं की

जा सकती है। यहाँ तो मनुष्य की स्थिति ऐसी है कि सुख से पहले भी दुःख की कल्पना रहती है और दुःख से ही सुख की प्राप्ति होती है। जब उस सुख की प्राप्ति उसे हो जाती है तो उस सुख की अनुभूति का क्षण कब चला जाता है?उसे पता ही नहीं चलता है। पुनः एक नया दुःख उसके लिए शुरू हो जाता है। उसके मन में अनेक प्रकार की चिन्ताएं शुरू हो जाती हैं। मन में जो चिन्ताएं पड़ी हैं इसी को दुःख कहा जाता है। आपने किसी भी वस्तु का सेवन किया, सेवन करने से पहले भी आपके मन में आकुलता का परिणाम रहता है और सेवन करने के बाद भी आपके मन में एक अलग प्रकार की खेद–खिन्नता रहती है। हमने सुख को मान रखा है कि सुख मिल गया है लेकिन वह सुख वस्तुतः मिल नहीं पाता है। इसलिए यहाँ पर कहा जा रहा है कि जो सुख है वह मुख्यतः देवों को ही मिलता है। उस सुख को अगर हम सही ढंग से समझ लेंगे तो हमें लगेगा कि सुख मनुष्यों में होता ही नहीं है। क्योंकि देवों में जो सुख होता है उस सुख को भोगने के लिए आगे–पीछे उन्हें कोई चिंता नहीं होती है। न तो उन्हें सुख को भोगने के लिए पहले कोई प्रयास करना पड़ता है, न चिंता करनी पड़ती है और न किसी प्रकार का मन में कोई विकल्प रहता है। सुख भोगने के बाद भी उन्हें कोई चिंता नहीं रहती है। इसलिए उनके सुख को ही सुख कहा जाता है। जो मनुष्यों का सुख हैं वह खाज– खुजाने के समान है। अगर उस जगह को खुजा लेते हैं तो आराम तो मिलता है लेकिन पीड़ा उससे अधिक बढ़ जाती है। खुजलाने के समय हमें अच्छा तो लगता है लेकिन वही खुजाने के बाद हमें और अधिक पीड़ा होती है जो दुःख देने वाली हो जाती है। दुःख और सुख का यथार्थ स्वरूप समझना भी अपने लिए तत्त्व का ज्ञान कहलाता है। जब तक यह ज्ञान भीतर तक नहीं होगा तब तक हम यह समझ ही नहीं पाएंगे कि दुःख क्या है?और उससे बचने का उपाय क्या है?सुख अगर वास्तव में इन्द्रिय सुख है तो वह कैसा है?

इसलिए आचार्यों ने कभी भी मनुष्यों के सुख की प्रशंसा नहीं की है, अगर की है तो देवों के सुख की ही प्रशंसा की है। देवों के सुख यहाँ पर भी लिखे हैं और अन्य ग्रन्थों में देवों के सुख की भी कल्पना और थोड़े बहुत दुःख की भी परिभाषा बताई गई है। 'इष्टोपदेश' ग्रन्थ में आचार्य कहते हैं–नाके नाकौकसां सौख्यं, नाके नाकौकसामिव अर्थात् स्वर्ग में देवों का सुख, स्वर्ग के देवों जैसा है।

आचार्य कहते हैं– इन्द्रिय से होने वाले सुख अनातंक (रोग से रहित) निर्विघ्न (न पहले चिन्ता, न बाद में चिन्ता) किसी भी प्रकार के भय से रहित होते हैं। ऐसे अनातंक सुख जो दीर्घकाल तक मिलते हैं वे केवल देवों को ही मिलते हैं। क्योंकि देवों के शरीर में रोग नहीं होते हैं। देव कितना भी विषय सेवन कर लें उन्हें थकान नहीं होती है। उन्हें खेद खिन्नता नहीं होती है। ऐसे सुख भी देवों को दीर्घकाल तक प्राप्त होते हैं। इसलिए उनका सुख ही इन्द्रिय सुख कहा गया है बाकी का सुख कोई इन्द्रिय सुख नहीं है। जैसे रसगुल्ला अच्छा तो लग रहा है। आपने एक, दो, तीन, चार, पाँच खा तो लिए, तत्पश्चात् पेट में जो दर्द होगा तो आपको लगेगा यह पीड़ा उन्हीं रसगुल्लों से हो गई। यह

इन्द्रिय सुख है। इसी तरह से प्रत्येक इन्द्रिय के सुख आदमी को मिलते हैं और आचार्य कहते हैं कि इन्द्रिय सुख भी अगर कहीं पर अधिकता से हैं, निर्विघ्न हैं, आतंक से रहित हैं तो केवल देवों में हैं। देवों के सुख के लिए तत्त्वार्थसूत्र जैसे सिद्धान्त–ग्रंथ में सुख का वर्णन किया है यह अपने आप में महत्वपूर्ण बात है। इसीलिए इतना वर्णन अभी किया जा रहा है।

'कायप्रवीचारा आ ऐशानात्'– 'आ ऐशानात्' का अर्थ है–ऐशान स्वर्ग तक। अर्थात् भवनवासी देवों से प्रारम्भ करके वैमानिक देवों–ऐशान स्वर्ग तक के देवों में जो सुख की प्राप्ति का साधन है, वह काय से प्रवीचार करना है। प्रवीचार का अर्थ बताते हुए आचार्य पूज्यपाद कहते हैं–'प्रवीचारो मैथुनोपसेवनम्।' मैथुन द्वारा उपसेवन प्रवीचार कहलाता है। जितने भी भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी, सौधर्म और ऐशान स्वर्ग तक के देव है ये सभी काय (शरीर) से प्रवीचार करते हैं। इसी की टीका करते हुए आचार्य लिखते हैं–'कायेन प्रवीचारो येषां ते कायप्रवीचाराः। आङ् अभिविध्यर्थः।' 'आङ्,' प्रत्यय एक मर्यादा बताने के लिए आया है कि यहीं तक के देव काय से प्रवीचार करते हैं। क्योंकि स्वर्ग के देवों का सुख ऊपर–ऊपर और अधिक–अधिक ही है। 'असंहितया निर्देशः असंदेहार्थः। एते भवनवास्यादय ऐशानान्ताः संक्लिष्टकर्म त्वान्मनुष्यवत्स्त्रीविषयसुखमनुभवन्तीत्यर्थः।' आचार्य पूज्यपाद स्वामी टीका करते हुए लिखते हैं कि भवनवासी से ऐशान स्वर्ग के अन्त तक के जितने भी देव हैं ये सभी संक्लिष्ट कर्म वाले होते हैं। संक्लेष भी क्रिया कहलाती है। सैद्धान्तिक शब्दों को अगर ध्यान में रखा जाए तो आपके भीतर भी कुछ ज्ञान उतर सकता है। यह जो काय से प्रवीचार है। स्त्री–विषयक सुख का अनुभव करने के लिए मनुष्य जो करता है ऐसे ही मनुष्यों के समान देवगण काय से ही सुख की प्राप्ति करते हैं। ऐसा क्यों करते हैं?संक्लेष का अर्थ होता है भीतर से दुःखी होकर क्लेश करना। अर्थात् भीतर जब क्लिष्ट की अधिकता हो जाती है तब इस तरह के विषय का अनुभव किया जाता है। इसको संक्लिष्ट कर्म कहते हैं। सिद्धान्त–ग्रन्थों में इसको रौद्र कर्म भी कहा गया है। इस तरह से मन में कामवेदना का प्रतिकार करने के लिए भवनवासी देवों से ऐशान स्वर्ग तक के देव काय से प्रवीचार करते हैं।

शेष स्वर्गों के देवों में प्रवीचार करने के तरीकों को बताते हुए आचार्य लिखते हैं–

शेषाः स्पर्श–रूप–शब्द–मनःप्रवीचाराः।।8।।

अर्थ– शेष अर्थात् तीसरे स्वर्ग से लेकर सोलहवें स्वर्ग तक, कुछ देव, देवियों के स्पर्श से, कुछ में रूप देखने से, कुछ में शब्द सुनने से और कुछ स्वर्गों में देव और देवियां मन में एक दूसरे के स्मरण मात्र से काम वासना से तृप्त हो जाते हैं।

इस सूत्र को पढ़ने के बाद आपको समझ आएगा कि काम–वेदना का प्रतिकार अनेक रूपों में किया जाता है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की अपनी देवियों के स्पर्श करने मात्र से ही वेदना दूर हो जाती है। स्पर्श करने मात्र से ही उन्हें संतुष्टि हो जाती है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव और कापिष्ठ स्वर्ग के देव अपनी देवियों को देखने मात्र से ही संतुष्ट हो जाते हैं। वे अपनी देवियों के

मनोज्ञ रूप को देख लेते हैं और देखने मात्र से ही उनकी काम–वेदना का प्रतिकार हो जाता है। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार स्वर्ग के जो देव होते हैं वे गीत–गायन, मधुर संगीत, कोमल हास्य के शब्द मात्र को सुनते ही संतुष्ट हो जाते हैं। इसके बाद आनत, प्राणत, आरण, अच्युत स्वर्ग के जो देव होते हैं वे केवल अपनी देवी का मन में विचार कर लेने मात्र से ही संतुष्ट हो जाते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि सभी इन्द्रियों के माध्यम से प्रवीचार होता है। इन इन्द्रियों के माध्यम से प्रवीचार करने वाले देवों में जो ऊपर–ऊपर के देव हैं उनमें संतुष्टि का परिणाम अधिक रहता है। उनकी संतुष्टि का कारण यह है कि उनकी जो लेश्याएँ होती हैं या उनके जो परिणाम होते हैं वे विशुद्ध होते चले जाते हैं। अर्थात् ऊपर–ऊपर के जितने भी देव होते हैं उनमें प्रवीचार की भावना भी अपेक्षाकृत कम होती है।

आगे के सूत्र में कल्पातीत देवों में प्रवीचार के विषय में आचार्य कहते हैं–

परेऽप्रवीचाराः।।9।।

अर्थ– परे अर्थात् सोलहवें स्वर्ग के ऊपर जो नवग्रैवेयिक, नव अनुदिश, और पंच अनुत्तर विमानवासी देव हैं वे काम सेवन से रहित होते हैं। अर्थात् उनमें काम–वेदना नहीं होती है।

उन सोलह स्वर्गों से भी ऊपर कुछ देव होते हैं जो प्रवीचार से रहित होते हैं। वहाँ तक देवियां पहुँचती ही नहीं हैं। ऐसे भी देव होते हैं वहाँ पर देवियों के माध्यम से किसी भी प्रकार के सुख का प्रयास नहीं करना पड़ता है। उनकी लेश्या अर्थात् उनके परिणाम इतने विशुद्ध होते हैं कि वे सागरों पर्यन्त अपना जीवन धर्मध्यान करते हुए निकाल देते हैं। देवों में भी ऐसे देव होते हैं जो मुनि के समान वीतरागी देव होते हैं। 'परे' का अर्थ है इसके आगे अर्थात् इसके आगे जितने भी देव हैं वे अप्रवीचार अर्थात् प्रवीचार से रहित होते हैं। देवियों का आवागमन केवल सोलहवें स्वर्ग तक ही है। उसके आगे के जो देव हैं वे बिल्कुल निर्विकल्प, प्रवीचार से रहित होते हैं। उनके मन में देवियों का किसी प्रकार से स्मरण भी नहीं आता है।

यह कितनी बड़ी बात है। सांसारिक जीव हैं, देव हैं, देवगति के ही जीव हैं उनके अवधिज्ञान में सब कुछ झलक भी रहा है। उस अवधिज्ञान से दिखने के बाद भी उनके मन में प्रवीचार की कोई भावना उत्पन्न नहीं होती है। यह अपने आप में एक बहुत गौरवपूर्ण बात है। इसका मुख्य कारण है–भीतर की लेश्या का शुभ होना। आप अपने भीतर के परिणामों से ही इन सबसे बच सकते हैं।

इसलिए कहते हैं कि भगवान की भक्ति करने से काम व क्रोध की भावनाएं नष्ट हो जाती है। यह यथार्थ सत्य है। आपके परिणाम अगर अच्छे होंगे तभी आप अपनी इच्छाओं को जीत पाएंगे तथा अपने परिणामों को विशुद्ध बना पाएंगे। यदि आपके अन्दर की लेश्याएं विशुद्ध होने लगेगी तो फिर आपको इन सभी चीजों में कोई रस दिखाई नहीं देगा। यह सभी कुछ परिणामों के माध्यम से ही

होता है। अन्य ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो आपको रोक सके। आप प्रयास करोगे लेकिन आप सफल नहीं हो पाओगे। केवल आपका अंतिम प्रयास है–अपने परिणामों को संभालना। परिणाम को शुद्ध बनाना। परिणाम को शुद्ध बनाने के लिए तत्त्वज्ञान की भी बहुत आवश्यकता होती है। यह तत्त्वज्ञान जितना अधिक दृढ़ होगा उतने ही आपके परिणाम शुद्ध होंगे।

शंका– हास्यादि नौकषाय हैं तो रति आदि इन नौकषायों से होती है या कषाय से?स्पष्ट करें?

समाधान– कर्म का उदय तो रहता है लेकिन कर्म का उदय सब कुछ कर दे, ऐसा कोई आवश्यक नहीं है। हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद ये नव नौकषाय हैं। नौकषाय का अर्थ है–थोड़ी कषाय। कषाय पर नियंत्रण बहुत अधिक हो सकता है यदि कषाय कम हो। क्योंकि मुख्यकषाय तो चार हैं–क्रोध, मान, माया, लोभ। इन कषायों में मंदता आती है तो नौकषाय भी कम हो जाती है। क्योंकि नौकषाय भी कषाय के साथ ही चलती है। कषाय अगर बड़ी होगी तो ये नौकषाय भी बड़ी होगी। मान बड़ी कषाय है तो हास्य नौकषाय है। जब आप किसी पर हँसेंगे तो आपकी हँसी में मान–कषाय का जितना अंश होगा, उसके अनुसार आप दूसरे के ऊपर हास्य कर सकते हैं। जैसे– महाभारत का युद्ध मान–कषाय के कारण हुआ था। जब महल में दुर्योधन के ऊपर द्रोपदी हँसी थी तब उसने कहा था–'मेरा महल ऐसे काँच का बना हुआ है जिसे तुम पानी समझ रहे हो। अंधों के तो अंधे होते हैं।' यहाँ मान कषाय के साथ हास्य नौकषाय की भी तीव्रता थी। जितनी मान कषाय तीव्र होगी हास्य उतना अधिक होगा। आप किसी दूसरे के ऊपर हँस रहे हैं, उसका अपवाद कर रहे हैं, किसी दूसरे को आप नीचा दिखा रहे हैं, इस मान–कषाय में हास्य का अंश रहता है।

एक सामान्य हँसना अलग बात है। एक वह हास्य जो दूसरे को नीचा दिखा दे उसमें मान–कषाय का अंश रहता है। ऐसे ही लोभ कषाय जितनी ज्यादा होगी आपकी रति और अरति किसी के साथ उतनी ही अधिक होगी। इसी तरह वेद लोभ के साथ जुड़ जाता है। आपके अंदर जितनी लोभ की इच्छा होगी, लोभ के साथ आपके अंदर वेद की इच्छा उतनी ही तीव्र होगी। लोभ कम होगा तो वेद की इच्छा नहीं होगी। इसलिए इन कषायों पर नियंत्रण करना सरल हो जाता है अगर सैद्धान्तिक तत्त्वों पर ध्यान कर लिया जाए। अपनी कषायों को कुछ मंद करो स्वतः ही नौकषायें कम हो जाएंगी।

उपर्युक्त देवों में नौकषाय सभी के अंदर है क्योंकि पुरुषवेद का उदय है। लेकिन उनके किसी भी प्रकार की इच्छा ही नहीं है। स्त्री का मन में भी संकल्प नहीं है। मन में संकल्प केवल सोलहवें स्वर्ग तक है उसके बाद तो स्त्री की कोई बात ही नहीं है। स्त्री की चर्चा तो करेंगे लेकिन उनके लिए कोई राग नहीं होगा। द्वादशांग में जो लिखा है–'सब पढ़ेंगे, चर्चा करेंगे, अपने अवधिज्ञान से नीचे के देवों में जो हो रहा है वह सब कुछ देखेंगे। लेकिन उनके अन्दर वेद कषाय का परिणाम उत्पन्न नहीं होगा।' ऐसा नहीं है कि वे बहुत दूर बैठे हैं, एकान्त में है। इसलिए उन्हें कुछ नहीं दिख रहा है। सब कुछ जानते हुए भी उनके अन्दर किसी भी प्रकार का वेद परिणाम उत्पन्न नहीं होता है।

जब इस संसार में रहकर देवों के लिए संभव हो सकता है तो मनुष्यों के लिए क्यों नहीं हो सकता है?इसीलिए सिद्धान्त–ग्रन्थों में इन देवों को मुनि की उपमा दी जाती है। नवग्रैवेयिक के देव, मुनि महाराजों की तरह काम–वेदना से रहित होते हैं। आचार्य पूज्यपाद महाराज 'सर्वार्थसिद्धि' ग्रन्थ में टीका करते हुए लिखते हैं–'पर' ग्रहणमितराशेषसंग्रहार्थम्। 'अप्रवीचार' ग्रहणं परमसुखप्रतिपत्त्यर्थम्। प्रवीचारो हि वेदनाप्रतिकारः। तदभावे तेषां परमसुखमनवरतं भवति।' अर्थात् जितने भी शेष देव हैं उन सभी का संग्रह करने के लिए 'पर' शब्द आया है। जो यह 'अप्रवीचार' है यही परमसुख है। ये देव सुखी रहते हैं क्योंकि इन्हें अपने सुख की प्राप्ति के लिए किसी दूसरे का अवलम्बन नहीं लेना पड़ता है। जितना आप पर पदार्थ को लेकर सुख की प्राप्ति का आलम्बन करोगे, उतना ही आपके अंदर दुःख के अनुपात की क्षमता बढ़ जाएगी। क्योंकि वह किसी और पर निर्भर है। वस्तुतः सच्चा सुख वह होता है जो स्वतन्त्र होता है। आत्माश्रित होता है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि ये परम सुख को प्राप्त करते हैं।

'प्रवीचारो हि वेदनाप्रतिकारः'– यहाँ पर प्रवीचार की एक और परिभाषा इन देवों के लिए लिखी गई है कि वेदना हुई और उसका हमने प्रतिकार किया, इसी का नाम प्रवीचार है। इस परिभाषा को हमें अच्छी तरह से ध्यान में रखना है। कोई भी वेदना हुई और हम उसका प्रतिकार (उपचार) कर रहे हैं। उसको हम सुख समझ रहे हैं। वस्तुतः वह क्या है?वह प्रवीचार है। इसीलिए आपको पहले खाज का उदाहरण दिया था। खाज है तो हमें वेदना होगी और हम उसका प्रतिकार कर रहे हैं अर्थात् उसे खुजलाकर दूर कर रहे हैं तो वह हमारे लिए वेदना का प्रतिकार हो रहा है। वेदना समाप्त नहीं हो रही है। वेदना का हम प्रतिकार कर रहे हैं। इस वेदना का प्रतिकार करना ही प्रवीचार कहलाता है। इसका अभाव जिनमें हो जाता है वे परम सुख का अनवरत अनुभव करते रहते हैं। ऐसे ये देव, ग्रैवेयिक आदि के देव कहलाते हैं। वहाँ पर अगर मिथ्यादृष्टि देव भी होंगे तो वे भी इसी प्रकार के सुख का अनुभव करेंगे। इसका सम्बन्ध मिथ्यादर्शन या सम्यग्दर्शन से नहीं है। मिथ्यादृष्टि देवों की लेश्यायें भी शुभ होती हैं। इसलिए उनके परिणामों की शुभता के कारण उन्हें इस प्रकार की कोई वेदना नहीं होती है। वे परम सुख का अनुभव करते हैं।

इस तरह से आप यह जान सकते हैं कि देवों में भी अनेक प्रकार की परिणतियाँ हैं और ये सभी परिणतियाँ अनेक–अनेक रूपों में प्रतिकार करके सामने आती है। इसलिए वेदना का प्रतीकार करके सामने आती है। अतएव वेदना का प्रतिकार ही प्रवीचार है। वेदना भी अनेक प्रकार की होती है। क्षुधा, तृषा, परिग्रह–ये सभी एक प्रकार से वेदनाएं हैं। इन वेदनाओं का प्रतिकार करने से वे वेदनाएं कुछ समय के लिए शान्त हुई सी लगती हैं। लेकिन पुनः उत्पन्न हो जाती हैं। इसलिए इनको रोग कहा जाता है। संसार के किसी भी धर्म में क्षुधा को रोग नहीं कहा गया है। जैनधर्म की पूजाओं में 'क्षुधा रोग विनाशाय नैवेद्यं निर्वपामीति स्वाहा'–कहा जाता है। संसार का कोई भी धर्म क्षुधा या तृषा को रोग नहीं कहता है। यह विषय गहरा है। इसीलिए इसको रोग की उपमा दी जा रही है क्योंकि इसको कितना ही ठीक करो, यह पुनः उत्पन्न हो जाता है। अन्य धर्मों में खाने–पीने

की भी कोई मर्यादा नहीं होती है। वे अगर कोई व्रत या उपवास करते हैं तो सब चलता रहता है। वे अगर दिन में खायेंगे तो रात में नहीं खाते हैं। कई धर्म के अनुसार रात में खाते हैं, दिन में नहीं खाते हैं। लेकिन दिन और रात कुछ नहीं खाना, निराहार रहना–यह आपको बहुलता से जैनों में ही मिलेगा। आजकल तो व्रतों के भी आहार के पैकेट बाजार में आने लग गये हैं। जब व्रत आते हैं तभी वे पैकेट बाजारों में अधिक बिकते हैं। यह सब क्या है? जिनको इतना ही विवेक नहीं है कि हम अगर उपवास कर रहे हैं और बाजारों के पैकेटों की चीजें खा रहे हैं तो हमारा कौन सा व्रत रह जाता है। यह सब अज्ञानता से चलता रहता है। जैन–श्रावक इतना विवेकी जीव होता है कि वह प्रत्येक कार्य को विवेक के साथ करता है। 'हमने क्या किया? क्यों किया? और इससे हमें क्या लाभ मिलेगा?' इस प्रकार का विवेक जिसके पास रहता है वही जैनी श्रावक होता है। ऐसे विवेक पहले रहा करते थे इसलिए क्षुधा को भी रोग कहा गया है। उस क्षुधा–रोग के नाश के लिए आप प्रार्थना करते हैं। भगवान के चरणों में नैवेद्य समर्पित करते हैं। अन्य लोग मानते हैं–कुछ भगवान के चरणों में चढ़ा दिया, थोड़ा सा भगवान को खिला दिया और बाकी का अब वह स्वयं खा लेंगे। अन्य धर्म और जैन धर्म के सिद्धान्तों में कितना बड़ा अन्तर है? यहाँ जो चढ़ा दिया, फिर उसे स्पर्श नहीं कर सकते। वह द्रव्य निर्माल्य हो जाता है। दूसरी ओर, वहाँ वही चढ़ायेंगे जो खाना है। इसलिए कई लोग भगवान को शराब तक पिलाते हैं। क्योंकि उन्हें पीना है। उनके भगवान पीते हैं। यह आपने भी देखा होगा और सुना होगा। कहते हैं–'भगवान भी पी रहे हैं और हम भी पी रहे हैं।' लोग इतनी अज्ञानता में जी रहे हैं और उसी को धर्म मानकर आचरण कर रहे हैं।

इसीलिए आचार्य कहते हैं कि अपने धर्म को समझो। धर्म क्या होता है और अधर्म क्या होता है? इसी को तत्त्वज्ञान कहते हैं। हम प्रत्येक वस्तु को भेद करके अच्छी तरह जान लें। धर्म क्या है? अधर्म क्या है? सुख क्या है? दुःख क्या है? अपने लिए उचित क्या है? अनुचित क्या है? इन सभी का विवेक रखने वाला 'सुधी श्रावक' कहलाता है।

इस तरह से यहाँ प्रवीचार का वर्णन पूर्ण हो जाता है।

अब आगे के सूत्र में पहले निकाय के दस प्रकार के देवों के विषय में और उनकी अनेक प्रकार की विभूतियों के विषय में बताया जायेगा।

भवनवासी देवों के दस भेद–

भवनवासिनोऽसुर–नाग–विद्युत्–सुपर्णाग्नि–वात– स्तनितोदधिद्वीप दिक्कुमाराः ।।10।।

अर्थ– भवनवासी देवों के असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत्कुमार, सुपर्णकुमार, अग्निकुमार, वातकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, द्वीपकुमार और दिक्कुमार ये दस भेद हैं।

भवनवासी देवों के दस भेद बताये थे। यहाँ उनके नाम बताए गये हैं। सबसे पहले भवनवासियों में असुरकुमारों का नाम आता है। भवनवासियों में वे देव सबसे बड़े कहलाते हैं। इन्हीं में एक अम्बावरीष नाम की जाति होती है। जिन्हें हम असुर जाति के देव कहते हैं। जिनका कार्य नरकों में जाकर नारकियों को लड़ाने का होता है। असुरकुमार देवों में सभी देव एक जैसे होते हों, हमें ऐसा नहीं समझना चाहिए। इसमें कुछ जाति विशिष्ट वाले देव होते हैं जो नरकों में लड़ाने और भिड़ाने का काम करते हैं। हम असुर कुमारों को सामान्य रूप में 'असुर' समझते हैं। लेकिन इनकी आयु व इनकी ऊँचाई अन्य भवनवासी देवों से अधिक रहती है। असुरकुमार विशिष्ट देव हैं।

दूसरे नाग जाति के नागकुमार देव कहलाते हैं। सभी के आगे कुमार अवश्य लगाना है। तीसरे देव विद्युत्कुमार होते हैं। चौथे सुपर्णकुमार देव होते हैं। पाँचवे अग्निकुमार, छठवें वातकुमार सातवें स्तनित कुमार, आठवें उदधि कुमार, नौवें द्वीप कुमार और दसवें दिक्कुमार देव होते हैं। इस तरह से ये दस प्रकार के भवनवासी–जाति के देव होते हैं। आचार्य पूज्यपाद महाराज इसकी टीका करते हुए लिखते हैं– 'भवनेषु वसन्तीत्येवंशीला भवनवासिनः।' ये भवनों में रहते हैं और भवनों में रहने के कारण ही इनका नाम भवनवासी पड़ गया है। आगे टीका करते हुए लिखते हैं–'आदिनिकायस्येयं सामान्यसंज्ञा।' जो भवनवासियों का पहला निकाय था उसकी यह सामान्य संज्ञा है। फिर कहते हैं–'असुरादयो विशेषसंज्ञा विशिष्टनाम– कर्मोदयापादितवृत्तयः' ये उसमें असुर आदि हैं ये विशेष–संज्ञा के रूप में जाने जाते हैं। क्योंकि भवनवासियों में भी असुर बनने के लिए विशिष्ट–नामकर्म की आवश्यकता पड़ती है। अलग–अलग कुमार बनने के लिए भी अलग–अलग नामकर्म का उदय होता है। जैसे कोई सामान्य मनुष्य है और उसमें भी विशिष्ट मनुष्य बनने के लिए अलग नामकर्म के उदय होते हैं। विशिष्ट कुल में उत्पन्न होने के लिए भी विशिष्ट गोत्रकर्म का उदय होता है। उस विशिष्ट गोत्र में भी धार्मिक, धनी, विशिष्ट परिवार में जन्म लेने के लिए भी नामकर्म के उदय होते हैं। इस प्रकार भवनवासी तो एक ही होंगे। लेकिन इनमें भी असुरकुमार अलग होंगे, नागकुमार अलग होंगे और विद्युत्, सुपर्ण आदि जन्म लेने वाले नामकर्म अलग–अलग होंगे।

भवनवासी देवों के तीन प्रकार के आवास होते हैं। पहले भवनों में रहने वाले भवनवासी कहलाते हैं। दूसरे भवनपुर में रहते हैं। तीसरे कुछ ऐसे स्थानों पर रहते हैं जहाँ पर रहने से उन्हें आवासीय कहा जाता है। जैसे इस पृथ्वी के नीचे खर भाग में, पंकभाग में जिनके भवन बने हुए हैं। वहाँ पर जो रहेंगे वे भवनवासी कहलाएंगे। जिनके भवन द्वीपों में व समुद्रों में बने हुए है वे देव भवनपुरवासी कहलाएंगे। जो तालाबों में, गुफाओं में, पर्वतों आदि स्थानों पर भी अपना आवास बना लेते हैं उन्हें आवास वाले देव कहा जाता है। इस प्रकार इनके तीन प्रकार के निवास स्थान होते हैं। इन भवनवासी देवों का सर्वत्र विचरण रहता है। उनके आवास द्वीप व समुद्रों में भी बने रहते हैं। लेकिन रत्नप्रभा पृथ्वी के ऊपरी खरभाग में 9 प्रकार के भवनवासी देवों के व उसके नीचे जो पंकभाग कहलाता है उसमें असुरकुमार देवों के मुख्य रूप से आवास बने होते हैं। अतः इन देवों की

विशेष–वृत्तियाँ होती हैं जो विशेष नामकर्म से उनको प्राप्त होती हैं।

आगे पूज्यपाद महाराज टीका में लिखते हैं–

सर्वेषां देवानामवस्थितवयःस्वभावत्वेऽपि वेषभूषायुधयानवाहन क्रीडनादि–कुमारवदेषामाभासत इति भवनवासिषु कुमारव्यपदेशो रूढः।

इन भवनवासियों को कुमार क्यों कहा जाता है?इस टीका के माध्यम से आचार्य यहाँ बता रहे हैं। जैसे आप लोग भी अपने नाम के आगे कुमार क्यों लगाते हैं?यह बात भी आप इस सिद्धान्त ग्रन्थ के माध्यम से जान सकते हैं।

जो अनेक प्रकार की वेषभूषाओं में आनन्दित होते हैं। उनको बदलते रहते हैं। अनेक प्रकार के आयुध (अस्त्र–शस्त्र) अपने पास रखते हैं। अनेक प्रकार के यान और वाहन जो बनाते रहते हैं, बदलते रहते हैं। जिनका स्वभाव अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं को करने का रहता है। उन्हें कुमार कहते हैं। कुमार का अर्थ बालक होता है। जैसे कोई बच्चा होता है। उसे कोई खिलौना बहुत दिनों तक अच्छा नहीं लगता है, उसे वह बदलता रहता है। नए–नए खेलों को खेलने का शौक रहता है। अगर उसे नए–नए वेषभूषा बार–बार बदलकर पहनाओ तो उसे अच्छा लगता है। इस प्रकार कुमार जैसी, बालक जैसी, जिनकी आदतें होती हैं उनको कुमार कहा जाता है। 'कुमार' शब्द व्यपदेश अर्थात रूढ़ है। आगे इसकी टीका करते हुए आ. पूज्यपाद महाराज लिखते हैं–'स प्रत्येकं परिसमाप्यते असुरकुमारा इत्येवमादि।' यह 'कुमार' असुर आदि सबके साथ लगाना। फिर आचार्य पूछते हैं– 'क्व तेषां भवनानीति चेत्।' इनके भवन कहाँ बने हुए हैं?उत्तर देते हुए बताते हैं– 'रत्नप्रभायाः पंकबहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि।' असुरकुमारों के जो भवन हैं वे तो रत्नप्रभा पृथ्वी के पंकबहुल भाग में हैं।

रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन भाग होते हैं। पहला खर भाग, दूसरा पंक भाग, तीसरा अब्बहुलभाग होता है। खरभाग की मोटाई सोलह हजार योजन होती है। पंकभाग की मोटाई चौरासी हजार योजन होती है। और अब्बहुल भाग की मोटाई अस्सी हजार योजन होती है। इस तरह से ये रत्नप्रभा के तीन भागों में जो बीच का भाग है अर्थात् पंकभाग में ये असुरकुमार देव रहते हैं।

आचार्य पूज्यपाद महाराज टीका में यह भी लिखते हैं–**खरपृथिवीभागे उपर्यधश्च एकैकयोजनसहस्त्रं वर्जयित्वा शेषनवानां कुमाराणामावासाः।**

जो पहला खरभाग है उसमें ऊपर और नीचे का एक हजार योजन छोड़ देना, बीच में उनके आवास बने हुए हैं। उसमें इन दस भवनवासी देवों में से नौ प्रकार के भवन वासी देव खर भाग में रहते हैं। केवल असुरकुमार देव पंकभाग में रहते हैं। फिर उसी के नीचे अब्बहुलभाग प्रारम्भ हो जाता है। जहाँ पर नारकी रहते हैं। ये नारकी सबसे अलग रहते हैं। इस तरह असुरकुमारों का आवास अलग है बाकी नौ प्रकार के भवनवासियों का आवास स्थान अलग है।

इन भवनवासियों के भवनों में एक–एक अकृत्रिम जिनालय नियम से बने रहते हैं। कभी आप चैत्यभक्ति या जिनालयों की पूजा की जयमाला पढेंगे तो उसमें आपको पढ़ने को मिलेगा कि भवनवासियों के सात करोड़ बहत्तर लाख जिनालय होते हैं। जिसमें प्रत्येक भवनवासी के आवास में एक–एक जिनालय बना हुआ रहता है। ये जिनालय अकृत्रिम है, शाश्वत हैं, किसी के द्वारा बनाये नहीं गये हैं। उनमें जो जिनबिम्ब रहते हैं, उन जिनबिम्बों को भी हम यहाँ से बैठकर नमस्कार करते हैं। मात्र श्रावक ही नहीं अपितु मुनि महाराज भी नमस्कार करते हैं। भवनवासियों के भवनों में बने जिनालयों की आराधना नन्दीश्वर भक्ति व चैत्य भक्ति में आचार्यों ने की है। अर्थात् हम यहाँ बैठकर भी उन सात करोड़ बहत्तर लाख जिनालयों की वंदना कर सकते हैं। इसको नमस्कार की क्रिया कहते हैं। यह नमस्कार की क्रिया आपके लिए उपादेय क्रिया है। हमें यह समझना है कि इसको पढ़ने से हमें क्या लाभ हो रहा है?यह ज्ञान हमें कहाँ पहुँचा रहा है ?जैसे–भवनवासियों के भवनों की हमें जानकारी प्राप्त हुई है, उनके भवनों में बने जिनालयों की हमें जानकारी उपलब्ध हुई, उनके स्थानों की हमें जानकारी हुई। यह हमें जो पदार्थ का ज्ञान हो रहा है, यह हमारे लिए कुछ न कुछ क्रिया कराने वाली है। क्योंकि कोई भी अर्थ या पदार्थ होता है तो उसकी एक क्रिया भी होती है, जिसे अर्थक्रिया कहते हैं। जो जिनालय हैं उनकी एक अर्थक्रिया है। वह अर्थक्रिया है–उन जिनालयों को हम यहाँ से बैठकर नमस्कार करेंगे तो हमें पुण्य का बंध होगा। हमारे ज्ञान में प्रमाणिकता भी आएगी कि सर्वज्ञ भगवान महावीर स्वामी ने जैसा भवनवासी देवों के बारे में वर्णन किया, उसको आप स्वीकार कर रहे हैं। इसीलिए आप यहाँ से बैठकर उन जिनालयों को नमस्कार कर रहे हो। इस तत्त्वज्ञान से आपको उस तत्त्वज्ञान के बारे में बताया जा रहा है कि प्रत्येक अर्थ की एक अर्थक्रिया होती है और वही अर्थक्रिया जब हमारे ज्ञान में उपादेय बनकर सामने आ जाती है तो वह हमारे ज्ञान को प्रमाणिक बना देती है।

अर्थक्रिया का एक यह भी अर्थ है–उस पदार्थ की क्रिया, उस पदार्थ की प्रयोजनीय भूत क्रिया। दूसरी अर्थक्रिया वह है जो हमारे लिए उपादेय(ग्रहण करने योग्य) है या हेय (छोड़ने योग्य) है। हम उसे उपादेय मानकर क्या कर रहे हैं?अर्थक्रिया के द्वारा जिस अर्थ को हम सिद्ध कर लेते हैं, वही अर्थ हमारे ज्ञान में आने लगता है। वही ज्ञान प्रामाणिक कहलाता है। प्रामाणिक ज्ञान से तात्पर्य क्या है?जो अर्थ का प्रसाधक हो, अर्थक्रिया जिससे सिद्ध हो उस अर्थ को अगर हम अपने ज्ञान में दिखा दें या जान लें तो वही ज्ञान हमारे लिए प्रमाण हो जाता है, वही प्रमाणभूत कहलाता है। आपने जब तक जाना नहीं तब तक आपके ज्ञान में यह आएगा ही नहीं कि भवनवासी देवों के यहाँ पर भी जिनालय होते हैं। आप अपनी इच्छा से प्रवृत्ति कर रहे हैं। आपको कहा गया कि आप जिनेन्द्र भगवान के जिनालय में जाना और नमस्कार करना। आपने वहाँ आकर नमस्कार की क्रिया को अवश्य कर लिया लेकिन यह नमस्कार की क्रिया आपके लिए उपादेय है और इस क्रिया को हम जितने भी तीन लोक में अकृत्रिम जिनालय है उसके साथ भी कर सकते हैं। यह आप तब कर पाएंगे जब आपके ज्ञान में प्रमाणिकता होगी। प्रमाण ज्ञान वह होता है जो जिनवाणी के अनुसार अपनी बुद्धि को बना लेता है। हमें साक्षात् तो कुछ नहीं दिखाई दे रहा है लेकिन जो जिनवाणी में लिखा है वह यथार्थ

सत्य है। वह सत्य हम तब स्वीकार्य करेंगे जब हम इस तरह से तत्त्वज्ञान को जानेंगे, उन पर श्रद्धान करेंगे। भवनवासी देवों के यहाँ अकृत्रिम जिनालय हैं, वहाँ हमारा मन नमस्कार करने का होता है या नहीं होता है। ज्ञान का कार्य तो केवल ज्ञात करवाना है। प्रमाण केवल आपको बताएगा कि यह सत्य वस्तु है। अब उसके अनुसार प्रवृत्ति करना हैं, यह प्रवृत्ति करने का कार्य आपकी इच्छा का है। दोनों अलग–अलग हैं। ज्ञान और इच्छा दोनों अलग–अलग हैं। ज्ञान का कार्य केवल आपको बताना है कि यह वस्तु यहाँ इस रूप में अवस्थित है। भवनवासी देवों के यहाँ सात करोड़ बहत्तर लाख जिनालय हैं। अगर आपके ज्ञान में प्रमाणिकता होगी तो आप उसको स्वीकार कर लेंगे। आप उसको मानेंगे भी। हाँ, ऐसा होता है। अगर आपने ऐसा मान लिया तो आपका श्रुतज्ञान भी प्रमाणिक हो गया। अब इच्छा आपकी है, आप नमस्कार करें अथवा न करें। अगर आपके ज्ञान में प्रामाणिकता आ जाएगी तो आपमें नमस्कार करने का भाव भी आ जाएगा। क्योंकि अर्थक्रिया जिससे सिद्ध की जाती है उस अर्थ को ग्रहण करने का काम हमारे ज्ञान के साथ जुड़ी हुई इच्छा पर निर्भर रहता है। नमस्कार अर्थक्रिया है। इस उपादेय क्रिया से हमें क्या सिद्ध करना है?जहाँ–जहाँ ये नमस्कार करने योग्य जिनबिम्ब हैं उनको हमें नमस्कार करना, यह उस अर्थक्रिया से साधे हुए अर्थ के ज्ञान की प्रामाणिकता है। इसलिए अपने ज्ञान को और प्रामाणिक बनाने के लिए जिनवाणी के अनुसार जो पदार्थ बताये जाते हैं उसमें अपनी क्रिया करना। यह आपकी अर्थक्रिया से सहित पदार्थ के ज्ञान की प्रामाणिकता है।

सभी नमस्कार आदि की जो क्रियाएं होती है वह अलग–अलग समयों पर होती है। जैसे प्रातः व सांय को सामायिक जो समय होते हैं उसी समय पर ये क्रियाएं की जाती हैं। ये सभी क्रियाएं अपने आप में प्रामाणिकता को प्राप्त होती हैं।

इसलिए आचार्यों ने कहा है–जो श्रावक समय पर चारों दिशाओं में जिनालयों की वंदना करके, पंच परमेष्ठी की एकाग्रचित्त होकर एकान्त में वंदना करता है, वह श्रावक भी साधु की तरह हो जाता है। अर्थात् सामायिक में स्थित श्रावक भी साधु की तरह हो जाता है। क्योंकि उस समय उसकी कषाएं इतनी मन्द हो जाती हैं कि उसे साधु तक की उपमा दी जाती है। यह सामायिक का महत्व है। इसलिए प्रतिदिन तीन बार, दो बार या कम से कम एक बार तो अवश्य ही निर्विकल्प होकर सामायिक करने का अभ्यास प्रत्येक श्रावक को करना चाहिए। नमस्कार की क्रिया, वंदना की क्रिया आदि क्रियाएं हमें करनी चाहिए क्योंकि इससे हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता बढ़ती है।

हमारा ज्ञान उस समय किस पदार्थ को ग्रहण कर रहा है?जो पदार्थ सर्वज्ञ भगवान ने बताएं हैं, हमारे ज्ञान में वें ही आए हैं यद्यपि वे हमें दिखाई नहीं दे रहे हैं फिर भी हम उनको स्वीकार कर रहे हैं। यह हमारे लिए स्वतः ही सम्यग्दर्शन के जोड़ने की क्रिया बन जाएगी। यही सम्यक्त्व की क्रिया है। जो वस्तु हमें दिखाई नहीं दे रही है, फिर भी हम उसे स्वीकार कर रहे हैं ये सब आपके भीतर सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने वाले है।

आप पूर्व दिशा की ओर मुख करके खड़े होकर–अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधु, जिनधर्म, जिनागम, जिनचैत्य, जिनचैत्यालय को नमस्कार करते हैं। यह आपके भीतर का सम्यक् श्रद्धान है क्योंकि जब तक आपका ज्ञान, जो भगवान ने बताया है उसको प्रामाणिक मानकर नहीं चलेगा तब तक आपको सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं हो पाएगी। दर्शन करना, पूजन करना आदि तो हमारे आवश्यक कार्य हैं। इससे हमारा श्रद्धान बढ़े, ऐसा जरूरी नहीं है। इसलिए कई लोग जैन होकर जैन–दर्शन Philosophy को समझने की रूचि नहीं रखते हैं। अगर उनसे कहा जाए 'तत्त्वार्थसूत्र' का वाचन चल रहा है, स्वाध्याय चल रहा है तो वह इसको कठिन विषय समझकर मनाकर देते हैं। वे स्वयं को जैन तो मानते हैं लेकिन जैन होकर भी तत्त्वचर्चा को सुनना नहीं चाहते हैं। ऐसी इच्छा उत्पन्न नहीं होना ही यह बताता है कि हमारे अंदर जैनधर्म पर व जिनवाणी पर श्रद्धान नहीं है। यह तो ऊपरी बातें हो गई जैसे– मंदिर बनवाना, मंदिर के लिए दान इत्यादि देना, भगवान की प्रतिष्ठा कराना आदि कार्य एक योगदान स्वरूप भी हो जाते हैं और हमारा नाम भी हो जाता है। हमारे मन में ऐसे भी भाव आ जाते हैं कि हमारे धन का सदुपयोग हो गया। ये बातें बाहरी हैं। लेकिन जो भीतरी बात है वह यह है कि जब तक आपका ज्ञान भगवान की वाणी को ज्यों का त्यों स्वीकार करके उसमें प्रवृत्ति नहीं करेगा तब तक आपका ज्ञान प्रामाणिक नहीं बनेगा। प्रामाणिक ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है। सम्यग्ज्ञान वही होता है जिसमें सम्यग्दर्शन जुड़ा हुआ रहता है। इसलिए इन तथ्यों को जानने से हमारे अन्तरंग में उन क्रियाओं को करने के प्रति आदर उत्पन्न होता है। इसलिए आचार्य श्री प्रभाचन्द्र जी ने 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' में लिखा है–एक उपादेय भूत क्रिया होती है और एक अभिमत क्रिया होती है। अभिमत क्रिया का अर्थ है–अपनी इच्छा में आने वाली क्रिया। जैसे हमने किसी चीज को देखा और उसे देखकर हमें अच्छा लगा। यह क्रिया हमारी अभिमत क्रिया है क्योंकि हमारी इच्छा से हो रहा है, यह हमारे लिए इष्ट हो गया। लेकिन जो आपके लिए इष्ट हो रहा है वह उपादेय भी हो जरूरी नहीं है। उपादेय का अर्थ–जिसे हमें नियम से ग्रहण करना है उसे उपादेय भूत क्रिया कहते हैं। जैसे–नमस्कार की एक क्रिया है। आप अपने घर से बाहर निकले और रास्ते में जितने भी अन्य–अन्य मंदिर मिले उन सभी मंदिरों पर अपना मस्तक झुका लिया। इस मंदिर की भी बहुत मान्यता है, इस मंदिर की भी बहुत मान्यता है–ऐसा सोचकर आप अपनी इच्छा से गाड़ी में बैठे ही नमस्कार करते चले जा रहे हैं। लेकिन यह क्रिया आपके मन के अनुसार चलने वाली इच्छित क्रिया ही अभिमत क्रिया कहलाएगी। यह उपादेय भूत क्रिया नहीं है। उपादेय–भूत नमस्कार क्रिया वह कहलाएगी जिस क्रिया के माध्यम से आपके अंदर सम्यग्दर्शन का भाव उत्पन्न हो। आपकी श्रद्धा जिनदर्शन में और अधिक बढ़े। आपके अंदर पाप–कर्म की विशेष निर्जरा हो एवं आपके अंदर विशेष–पुण्य का बंध हो। वह नमस्कार रूप उपादेय भूत क्रिया कब होगी?जब आप केवल जिनेन्द्र भगवान के चरणों में नमस्कार करने के लिए अपने मस्तक को झुकाएंगे। इसीलिए इन दोनों प्रकार की क्रियाओं को हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। अधिकांश लोग अपने मन की क्रिया करते हैं। वे कहते हैं जहाँ हमारा मन करेगा हम वहीं नमस्कार करेंगे। इस क्रिया को अभिमत क्रिया कहेंगे। यह क्रिया तो कोई भी कर सकता है। आचार्य कहते हैं– 'सा क्रिया पशूनां संभवति।' यह क्रिया तो पशु भी कर लेते हैं। पशु का अर्थ–पशु भी होता है और अज्ञानी भी होता है। जो अज्ञानी होते है उन्हें

पता ही नहीं रहता है कि क्या सही है और क्या गलत है?जो उपादेय भूत क्रिया होती है उसे तो एक मात्र ज्ञानी ही करते हैं।

जिनेन्द्र भगवान के चरणों में ही नमस्कार क्यों करना चाहिए?यह बात अगर आपको पता होगी तो वह क्रिया आपके लिए उपादेय भूत बनी रहेगी। क्योंकि उनको नमस्कार करने से हमारी श्रद्धा समीचीन बनेगी, हमारे अंदर सम्यक्त्व की वृद्धि होगी और उसी से हमारे जन्म–मरण की परम्परा टूटेगी। अगर यह ज्ञान आपके अंदर होगा तो आपको यह क्रिया करने में आनन्द आएगा।

आपसे कहा जाए कि आप सात करोड़ बहत्तर लाख जिनालयों को नमस्कार करो तो आपके मन में यह भी प्रश्न उठ सकता है कि एक बार में तो ऐसा होना सम्भव नहीं है। हम तो बार–बार इस नमस्कार को यहीं बैठे–बैठे करेंगे। जब भी आपको कोई इस प्रकार से बताएगा तो पुनः हमारे अंदर उनके प्रति नमस्कार का भाव व आदर का भाव स्वतः ही आ जाएगा। यह अपने ज्ञान में आ जाना ही आपके ज्ञान की प्रमाणिकता है। आपके चित्त में जब सम्यग्ज्ञान आ जाएगा तो स्वतः ही इन सब विषयों में स्वीकृति हो जाती है। इसी को हित की प्राप्ति हो जाना कहते हैं। सम्यग्ज्ञान से हमें हित का विषय मिल जाता है। जिससे हमारा हित होना है, वह हमारी जानकारी में आ जाता है। तभी आप यहीं पर बैठे–बैठे आनन्दित होकर अपने हाथों को अंजलि बनाकर घुमाते भी रहेंगे और मन ही मन प्रसन्न भी होंगे कि हम यहाँ पर बैठे–बैठे अकृत्रिम जिनालयों की वंदना कर रहे हैं। इस तरह हमें अपने कल्याण के लिए सम्यग्ज्ञान को बढ़ाना चाहिए।

आगे सूत्र में व्यंतर देवों के आठ भेद के विषय में आचार्य कहते हैं–

व्यन्तराः किन्नर–किम्पुरुष–महोरग–गंधर्व–यक्ष–राक्षस–भूत–पिशाचाः।।11।।

अर्थ– व्यंतर देवों के किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत और पिशाच इस प्रकार आठ भेद होते हैं।

व्यंतरों के आठ भेद हैं–किन्नर, किम्पुरुष, महोरग, गंधर्व, यक्ष, राक्षस, भूत, पिशाच। आपसे कोई कहे कि ये भूत, पिशाच आदि मन के भ्रम हैं। ये होते ही नहीं है। लोग अंधविश्वास में जीते हैं जो भूत, पिशाच को मान रहे हैं। वे भी अंधविश्वास में जी रहे हैं जो नहीं मान रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं हमें भूत दिखाई देता है, चुड़ैल दिखाई देती है, हमें पिशाच दिखाई देता है तो इस तरह से भी लोग अंधविश्वास में जी रहे हैं। जो इसको नहीं मानते हैं वे भी अंधविश्वास में जी रहे हैं। ये दोनों ही प्रकार के अंधविश्वास हैं। भूत पिशाच को मानना भी एक सम्यक् विश्वास हो सकता है। जैसे–जो जैसे हैं उन्हें उसी रूप में मानना। 'यथावत् अर्थप्रकाशकं ज्ञानं प्रमाणम्' जो पदार्थ जैसा है उसको उसी रूप में जानना, प्रमाण ज्ञान है, बाकी का सब अंधज्ञान हैं या अंधविश्वास है। भूत हैं, पिशाच हैं, हम इनके अस्तित्व को नकार नहीं सकते हैं क्योंकि ये होते हैं, ये व्यन्तर जाति के देव होते हैं। इनका स्वरूप आकार बहुत सुंदर होता है। देवों की आकृति कभी भी कुरूप नहीं

होती है। क्योंकि इनका समचतुस्रसंस्थान होता है, इनका बहुत सुंदर रूप होता है और इसी रूप में ये रहते हैं। पहले तो हमें इस बात को स्वीकार करना चाहिए। अगर किसी भी जैन व्यक्ति को यह जानने और पढ़ने के बाद भी अगर उसको कोई चुड़ैल या भूत दिखाई देता हो, डाकिनी–शाकिनी दिखाई दे, तो उस समय मानना चाहिए कि यह इसका वास्तविक रूप नहीं है, जो यह हमें दिखाई देता है। वास्तविक रूप तो इसका सुंदर होता है, जो इसकी मूल आकृति कहलाती है। यह विक्रिया से अपना रूप बदलकर दिखा रहा है, हमें ऐसा मानना चाहिए।

भूत और पिशाच का भी जब आपको सही ज्ञान होगा तभी आप सम्यग्ज्ञानी बन जाएंगे। यक्ष और राक्षसों का भी आपको सही ज्ञान होगा तो भी आपका ज्ञान प्रामाणिक बन जाएगा। गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष ये भी देव हैं। लेकिन उनके ये नाम उनकी ही क्रियाओं के कारण पड़ गये हैं। आज भी हम 'गन्धर्व' उनको कहते हैं जो गाने का कार्य करते हैं और इस जाति के देव भी गाने का कार्य करते हैं। जब विशेष रूप से इनको स्तुति करनी होती है, भगवान का कोई कल्याणक हो तब ये भक्ति भावना से भगवान की स्तुति करते हैं। अथवा कहीं पर ये मुनि महाराज की प्रशंसा या वंदना करने के लिए जा रहे हों तो बड़े–बड़े गीत वादन करके ये मुनि महाराज की स्तुति करते हैं। इस जाति के सभी देव अपने विशेष–विशेष कार्यों में लगे रहते हैं। इसलिए इन देवों के नामों के माध्यम से मनुष्यों में भी वह छाप पड़ गई है। मनुष्यों में किन्नर भी होते हैं। ये सभी मूल में देवों के ही नाम हैं। व्यन्तर देवों की विधाएं हैं। इसलिए जो भूत हैं, पिशाच हैं, राक्षस हैं, इन्हें परछाई मत समझना। मन का भ्रम मत समझना। इन्हें वास्तव में देव समझना चाहिए। अपने कुछ विशेष परिचय के कारण व राग–द्वेष के कारण ये हमें परेशान करते हैं और कभी–कभी हमारी सहायता भी करते हैं। जैसे–असुर–कुमार देवों को लड़ाने और भिड़ाने में मजा आता है वैसे ही इन्हें भी आता है। लेकिन इनकी बहुत बड़ी विशेषता यह है कि जब भी इनको पता लग जाए मैं जिसको परेशान कर रहा हूँ वह जिनेन्द्र देव का परम भक्त है तो वे उसको परेशान करने की हिम्मत नहीं जुटा पाते। ये देव अधिकतर उनको परेशान करते हैं जो मानसिक रूप से कमजोर होते हैं तथा जो शीघ्रता से धर्ममार्ग से विचलित हो जाते हैं। अगर उन्हें डरा दिया जाय तो डर जाते हैं। जैसे बच्चों के सामने बनावटी छिपकली डाल दी जाय तो वे डर जाते हैं। उसी तरह जो मानसिक रूप से कमजोर होते हैं उनको यह शीघ्र परेशान करते हैं। इनका परेशान करने का दूसरा कारण–किसी से पूर्व जन्म में राग या द्वेष का होना भी होता है। जो उन्हें उस व्यक्ति से जोड़े रखता है। आपके अंदर निर्भीकता होगी तो आप इनको देखकर जिनेन्द्र भक्ति या णमोकार मंत्र का उच्चारण करें। कोई भी जिनेन्द्र भगवान से सम्बन्धित मंत्र का उच्चारण करेंगे तो ये आपकी दृढ़ता को देखकर दूर हो जाएंगे और फिर आपको परेशान करने के लिए लम्बे–लम्बे समय के अन्तराल के बाद आपकी परीक्षा लेने आएंगे। ये देव आपके सम्यक्त्व की दृढ़ता की परीक्षा करने समय–समय पर आते रहते हैं। इसलिए हमें इन देवों से डरना नहीं चाहिए। अपितु अपने सम्यक्त्व को और दृढ़ करने पर ये डराना बन्द कर देंगे।

इसी कारण लोग पद्मपुरा और तिजारा जी में जाकर भगवान की भक्ति करते हैं और उनके चरणों में पड़े रहते हैं। अरे भले मानुष! तुम अपने घर में ही 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' और 'भक्तामर',

'वर्द्धमान स्तोत्र' पढ़ लोगे तो ये आपत्तियाँ वहीं से ही लौट जाएंगी। ऐसा आवश्यक नहीं है कि पद्मपुरा या तिजारा में ही जाकर ये बाधाएँ दूर हो जाती हों। यदि आपके मन में विश्वास हो तो अपने जिनमंदिर में बैठने से भी ये सारे उपद्रव और बाधाएं भाग जाती हैं। क्योंकि भगवान तो प्रत्येक जगह अतिशय वाले होते हैं। हमारी भक्ति और भावना की कमजोरियां ऐसी होती हैं जो हमारे लिए सही विश्वास उत्पन्न नहीं होने देती हैं। यह विश्वास अपने अन्दर सम्यग्ज्ञान से आता है इसलिए सम्यग्ज्ञान को बढ़ाना चाहिए।

ये देव विभिन्न देश–देशान्तरों में भ्रमण करते रहते हैं। इनके भवन तो एक जगह बने हुए होते हैं लेकिन इनकी आदत घूमने की होती है। विभिन्न द्वीपों में, समुद्रों में एवं ऐसे स्थानों पर जहाँ कोई नहीं रहता हो, ये अपना वास बना लेते हैं। आपने देखा होगा कि सुनसान जंगलों में, सुनसान स्थानों में या घरों में भी जहाँ कोई न रहता हो, सुनसान पड़ा रहता हो, ऐसे स्थानों पर भी ये अपना आवास बना लेते हैं। बड़े–बड़े वृक्षों पर जैसे–पीपल के, बरगद के पेड़ पर भी ये अपना आवास बना लेते हैं।

आपने सुना भी होगा–कई बार लोग इन वृक्षों के नीचे मल मूत्रादि निष्कासन–क्रिया कर देते हैं। इन वृक्षों के नीचे अपमान जनक कार्य कर देते हैं तो ये उनके पीछे लग जाते हैं। क्योंकि उस स्थान पर ये खेल रहे हों या अपनी अन्य कोई क्रिया कर रहे हो तभी आपने अनजाने में मल मूत्रादि कर दिया। 'निःसहि निःसहि निःसहि' नहीं बोला तो ये रूष्ट होकर आपके ऊपर लग जाते है। इसलिए ऐसे स्थानों पर जाते समय तीन बार 'निःसहि निःसहि निःसहि' बोलना चाहिए अर्थात् आप अगर यहाँ हैं तो आप हट जाइये। अगर आप इन आदर सूचक शब्दों को उनसे बोलेंगे तो ये वहाँ से स्वयं हट जाएंगे और आपको परेशान भी नहीं करेंगे। कभी अशुद्धि की अवस्था में महिलाएं ऐसे स्थानों पर चली जाती हैं तो वहाँ भी ये उनके पीछे लग जाते हैं। ये सभी घटनाएं होती हैं। यह अंधविश्वास नहीं है। इस जन्म के भी कुछ कारणों से अथवा पिछले जन्म के राग–द्वेष के कारणों से भी ये हमें परेशान कर सकते हैं। इस तरह से व्यन्तर देव देश–देशान्तरों में या अन्य कहीं भी अपने रहने के आवास बना लेते हैं।

इनके आवास कहाँ पर बने हुए हैं?आचार्य कहते हैं–इस जम्बूद्वीप से असंख्यात द्वीप समुद्रों को उल्लंघन करके रत्नप्रभा पृथ्वी के पहले खरभाग में सात प्रकार के व्यंतर देव रहते हैं और नीचे के पंकबहुल भाग में राक्षसों का आवास है। कहने का तात्पर्य है कि पंकबहुल भाग में ही राक्षसों और असुर कुमारों का आवास है। जैसे भवनवासियों में विशिष्ट पद असुरकुमारों का है उसी तरह व्यन्तरों में राक्षस देव विशिष्ट होते हैं।

हमें इन्हीं का भय लगता है जबकि ये देव तो असंख्यात द्वीप–समुद्रों को पार करके खर भाग से भी नीचे पंकबहुल भाग में रहते हैं जो कि यहाँ तक आते ही नहीं है और प्रत्येक व्यक्ति इन्हीं से भयभीत रहता है। जो देव यहाँ आते हैं वे तो भूत और पिशाचादि हैं। या इनमें भी कुछ ऐसे देव होते

हैं जो उपद्रवादि करते हैं वे कभी–कभी आकर परेशान कर सकते हैं। लेकिन उनका स्थान सुनिश्चित है। यह व्यक्ति के संज्ञान में आना चाहिए और इसी के अनुसार अपनी प्रवृत्ति बनानी चाहिए। व्यन्तरों के भी असंख्यात जिनालय होते हैं। भवनवासियों के तो सात करोड़ बहत्तर लाख जिनालय है लेकिन व्यन्तरों के असंख्यात जिनालय हैं। अगर हम उनके भवनों में बने जिनालयों को नमस्कार करेंगे तो हो सकता है उनके मन में आ जाए कि ये हमारे जिनालयों को नमस्कार कर रहे हैं तो हम भी इन्हें परेशान करना छोड़ दें। आप पर दया का भाव रखकर आपकी रक्षा करने लग जाएंगे। आप भगवान की जगह उन्हीं व्यन्तर देवों का नाम लोगे तो हो सकता है वे आपको नहीं छोड़ेंगे।

आगे के सूत्र में ज्योतिष्क देवों के पाँच भेदों का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं–

ज्योतिष्काः सूर्याचन्द्रमसौ ग्रह–नक्षत्र–प्रकीर्णक–तारकाश्च।।12।।

अर्थ– ज्योतिष्क देव–सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और प्रकीर्णक तारों के भेद से पाँच प्रकार के हैं।

संख्या	ज्योतिषी देव नाम	नीचे से ऊपर की ओर योजन वृद्धि	चित्रा पृथ्वी
9	शनिश्चर	3 योजन	900 योजन
8	मंगल	3 योजन	897 योजन
7	बृहस्पति	3 योजन	894 योजन
6	शुक्र	3 योजन	891 योजन
5	बुध	4 योजन	888 योजन
4	नक्षत्र	4 योजन	884 योजन
3	चन्द्रमा	80 योजन	880 योजन
2	सूर्य	10 योजन	800 योजन
1	तारा	790 योजन	790 योजन

आचार्य ज्योतिष्क देवों का वर्णन करते हुए कहते हैं–ज्योतिष्क देव पाँच प्रकार के होते हैं। ज्योतिष्क का अर्थ है जिनका चमकने का स्वभाव होता है, उन्हें ज्योतिषी भी कहते हैं। सूर्य, चन्द्रमादि जिनका वर्णन आगे आने वाला है ये सभी ज्योतिष्क देव कहलाते हैं। हम जिसे सूर्य चन्द्रमादि के रूप में देखते हैं ये सभी ज्योतिष्क देवों के विमान हैं। जो हमें सूर्य का गोला दिखाई देता है वह कोई आग का गोला नहीं है अपितु सूर्य का विमान है। यह उनके विमान की बाहरी सतह होती है। इनके विमान संख्यात योजनों के होते हैं। उन विमानों के अंदर देव लोग रहते हैं। वहाँ भी इन्द्र प्रतीन्द्र आदि की व्यवस्था है। ज्योतिषी देवों का अर्थ है–जो सूर्य, चन्द्रमादि के विमानों में देव रहते हैं उन्हें ज्योतिष्क देव कहते हैं। ये सूर्य, चन्द्रमा आदि देव लोगों के रहने का स्थान है इसमें केवल देव ही रहा करते हैं, मनुष्य नहीं रह सकते हैं।

मनुष्य चन्द्रमा आदि पर पहुँचने की चेष्टा तो कर रहा है लेकिन वह वहाँ पर कभी पहुँच ही नहीं सकता और रह भी नहीं सकता है। जिसका यह बाहरी तल ही इतना अग्निमान है तो उस बाहरी तल को भेदकर ज्योतिषी देवों के घर में प्रवेश करना मनुष्य के लिए असंभव है। वे ज्योतिषी देव उसे वहाँ आने भी नहीं देंगे और न मनुष्य की इतनी सामर्थ्य है कि वह ज्योतिषी देवों के इन आलयों में अपना रहने का स्थान बना सके। कहने का तात्पर्य यह है जो भी सूर्य, चन्द्रमा, तारे, नक्षत्र आदि दिखाई देते हैं ये सभी देवों के विमान हैं। इन विमानों में रहने वाले जो देव हैं वे सभी अलग–अलग विशेषताओं को लिए हुए होते हैं। सूर्य के विमान अलग हैं, चन्द्रमा के विमान अलग हैं, प्रकीर्णक तारों के विमान अलग हैं, नक्षत्रों के विमान अलग हैं और ग्रहों के विमान अलग हैं। किसी के बड़े होते हैं, किसी के छोटे होते हैं, किसी के ज्यादा चमकदार होते हैं और किसी के कम चमकदार होते हैं।

आचार्य बताते हैं–इनके सूर्य चन्द्रमादि नाम क्यों पड़ गये हैं? इनके नामकर्म के उदय से ही सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदि नाम पड़ गए हैं। अलग–अलग नाम–कर्म के उदय से अलग–अलग जाति वाले, नाम वाले देव बन जाते हैं। सूत्र बनाते हुए भी आचार्य जी ने बहुत अधिक ध्यान रखा है। ''सूर्यचन्द्रमसौ'' यह एक अलग पद बनाया और उसके बाद ''ग्रह–नक्षत्र'–प्रकीर्णक–तारकाश्च'' यह एक अलग पद बनाया। इसको अलग क्यों बनाया?यह एक विभक्ति कहलाती है, इनको अलग–अलग पद में विभक्ति तोड़कर इनकी प्रधानता बताने के लिए इनको अलग–अलग पद में विभाजित किया गया है। प्रधानता का अर्थ है–ये मुख्य हैं अन्य सब गौण हैं। अर्थात् सूर्य, चन्द्रमा पहले हैं और अन्य सब अंत में हैं। ज्योतिष मंडल में सूर्य और चन्द्रमा की मुख्यता है। अन्य सब ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक तारे उन्हीं के परिवार में आ जाएंगें, जो गौण हैं।

प्रश्न उठता है कि इनकी प्रधानता कैसे होती है?आचार्य इसका उत्तर देते हुए कहते हैं–इनका प्रभाव आदि ज्यादा है। प्रभावादि से तात्पर्य इनके विमान ज्यादा चमकीले होते हैं, इनकी स्थिति (आयु) अधिक होती है। इनका प्रभाव अन्य ज्योतिषी देवों की अपेक्षा से ज्यादा होता है। इसलिए इनकी प्रधानता है। हम देखते भी हैं जब दिन में सूर्य का उदय होता है तो बाकी सब ग्रह, नक्षत्र, तारें इत्यादि दिखाई नहीं देते जबकि रहते तो वे अपने स्थान पर ही हैं। जब रात्रि में चन्द्रमा का उदय होता है तो चन्द्रमा का प्रभाव अधिक रहता है बाकी सब तारे नक्षत्रादि टिमटिमाते हुए दिखाई देते हैं। इसलिए सूर्य का प्रभाव दिन में और चन्द्रमा का प्रभाव रात्रि में सबसे ज्यादा दिखाई देता है। इसी से इनकी प्रधानता और विशेषताएं बन जाती है।

ये देव रहते कहाँ है?इनका निवास स्थान कहाँ हैं?तो आचार्य कहते हैं कि इस पृथ्वीतल से सात सौ नब्बे योजन जब आप ऊपर की ओर जाएंगे तो वहाँ पर इनके निवास स्थान बने हुए है। ये सभी ग्रह, नक्षत्र, सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि मध्यलोक में ही है। क्योंकि मध्यलोक की ऊँचाई एक लाख

योजन है जो कि सुमेरू पर्वत के बराबर होती है। सुमेरू पर्वत तो एक लाख योजन का है। ये ग्रह तो सात सौ नब्बे योजन से 900 योजन की ऊँचाई पर है। हमें ऐसा देखने में लगता है कि ये ऊर्ध्व लोक में है जबकि ये मध्यलोक में ही हैं। ऊर्ध्वलोक तो सुमेरू पर्वत के ऊपर जाने पर प्रारम्भ होगा। वैमानिक देव ऊर्ध्वलोक में रहते हैं।

आचार्य लिखते हैं–जब हम सात सौ नब्बे योजन ऊँचाई पर जाएंगे तो सबसे पहले हमें तारे मिलेंगे, ये ताराएँ भी देवों के विमान हैं उनमें भी देव निवास करते हैं। फिर उसके ऊपर हम दस योजन और चलेंगे तो हमें सूर्य के विमान मिलेंगे। ये सभी देव अपनी निश्चित वीथियों (गलियों) में भ्रमण करते हैं और इनका स्थान भी सुनिश्चित है। उसके ऊपर अस्सी योजन चलने पर चन्द्रमा के विमान दिखाई देंगे। इस तरह 790+10+80=880 योजन की ऊँचाई पर चन्द्रमा है। एक योजन 2000 कोस का होता है। एक कोस लगभग 3 किलोमीटर का होता है। संख्या का गुणा करने पर 2000x3x880=5280000 अर्थात् बावन लाख अस्सी हमार कि.मी. की ऊँचाई पर चन्द्रमा के विमान बने हुए हैं। विज्ञान के अनुसार जो लोग चन्द्रमा पर गये हैं उनका इस विषय में एक मत नहीं है। रूस के वैज्ञानिक अलग बोलते हैं, इंग्लैण्ड के वैज्ञानिक अलग बोलते हैं और अमेरिका के वैज्ञानिक अलग बोलते हैं। किसी वैज्ञानिक के अनुसार चन्द्रमा तीन लाख कि.मी. ऊँचाई पर है, कोई ग्यारह लाख कि.मी. कहता है और कोई अठारह लाख कि.मी. बताता है। बच्चों को सामान्य से जो स्कूल में पढ़ाया जाता है वह मात्र तीन लाख कि.मी. पढ़ाया जाता है। जबकि जैन भूगोल के अनुसार चन्द्रमा लगभग 53 लाख कि.मी. की ऊँचाई पर है। इससे सिद्ध होता है कि कोई भी वैज्ञानिक चन्द्रमा पर नहीं गये। अपनी आँखों से जो दिख रहा है वह सच हो–यह आवश्यक नहीं है क्योंकि बहुत दूर की चीजें अपनी आँखें सही नहीं देख पाती है। वैज्ञानिक यदि देखेगा तो वह भी पुद्गल (दूरबीन) के माध्यम से ही देखेगा। वह भी पुद्गल की एक मर्यादा (सीमा) के कारण ही देख पायेगा। वह भी सही जान पाए ऐसा आवश्यक नहीं है। आँखों से बहुत दूर की वस्तु देखनी हो तो चाहे वह किसी भी आकार की हो, हमें बिन्दु के रूप में ही दिखाई देगी। ट्रेन की पटरियां लम्बी–लम्बी दूर तक फैली रहती हैं। जब हम उन पटरियों को कहीं दूर से देखते हैं तो ऐसा लगता है कि ये पटरियां आपस में मिल रही हैं, जबकि ऐसा नहीं है। इसीलिए आँखों की अपनी एक क्षमता

है। अतः आँखों पर ज्यादा विश्वास मत करना। जिनेन्द्र भगवान के केवलज्ञान में जो दिख रहा है वही आपको यहाँ बताया जा रहा है। उसी पर हमें श्रद्धान करना चाहिए।

चन्द्रमा किसी ऐसी जगह का नाम नहीं है जहाँ पर कीचड़ हो, वहाँ पर कोई वायुमण्डल न हो, वहाँ ऑक्सीजन न हो। एक तरफ देखा जाए तो चाँद पर पहुँचे लोग ऐसे दिखाई देते हैं जैसे कीचड़ में धँस रहे हों और दूसरी तरफ कहते हैं कि वहाँ पर जीवन नहीं है। वहाँ न हवा है और न वहाँ कोई वातावरण है। जब वहाँ पर वातावरण नहीं है, हवा नहीं है, तो उन्होंने वहाँ पर ध्वजा कैसे फहरा दी? जब वहाँ हवा नहीं है तो ध्वजा कैसे हिल सकती है। यह विचार आपके मन में आना चाहिए था। किन्तु आपने कभी ऐसा विचार नहीं किया। उनके जो विमान थे जिससे वे चन्द्रमा पर गए, उनके उन विमानों में कीचड़ लग गई। ऐसा कैसे सम्भव है? तो आचार्य कहते हैं कि उनके विमान तो इतने सुन्दर हैं कि इनमें देव–देवियाँ रहती है, तुम तो उनकी सतह पर भी नहीं पहुँच सकते हो। उन वैज्ञानिकों के विमानों में जो कीचड़ लगी उसका कारण उनका किसी पर्वत या चट्टान पर पहुँचना है जहाँ उनके विमान रुके, वही उन्होंने मान लिया कि यह तो चन्द्रमा है और यह मंगल ग्रह है।

अभी भी दुनिया में बहुत से ऐसे वैज्ञानिक हैं जो इस बात को नहीं मानते कि कोई भी वैज्ञानिक चन्द्रमा पर पहुँचा है। रूस और अमेरिका इन दोनों में विज्ञान को लेकर हमेशा होड़ लगी रहती है। क्योंकि अभी अमेरिका की वीटो पावर ज्यादा चलती है इसलिए रूस के वैज्ञानिकों की बात नहीं मानी जाती है। जो अंतरिक्ष विज्ञान की सबसे बड़ी शाला जिसे 'नासा' के नाम से जाना जाता है, वह अमेरिका में है। लेकिन रूस के वैज्ञानिकों ने यह दावा किया है कि ये लोग अभी चन्द्रमा पर नहीं पहुँचे हैं। एक पुस्तक जिसका नाम 'We never went to Moon' वह पुस्तक इसी के बारे में है। उस पुस्तक पर शायद bann लगा हुआ है। लेकिन वह पुस्तक भी है। इसलिए हमें अलग–अलग वैज्ञानिकों की अलग–अलग धारणाएँ मिलती है। इसीलिए हमें शीघ्रता पर किसी बात पर विश्वास नहीं कर लेना चाहिए। आँखों की क्षमता के कारण हमें कुछ भी प्रतीत हो सकता है। हमारे मन में विचार आता है कि चन्द्रमा तो बहुत नीचे है। अगर आप छत से देखेंगे तो लगेगा चंद्रमा तो नीचा है जबकि वह सूर्य से भी अधिक ऊँचाई पर है। लेकिन वास्तविक अवस्था में सूर्य का विमान नीचा होता है और चन्द्रमा का विमान ऊँचा होता है। ये कभी हमें पास और कभी हमें दूर दिखते हैं। यह अन्य कारणों से हमें ऐसा लगता है। क्योंकि जब ये अपनी गलियों में या वीथियों में भ्रमण करते हैं तो कभी–कभी ये भ्रमण करते हुए जम्बूद्वीप के पास आ जाते हैं और हमें ये पास दिखाई देने लगते हैं। सूर्य के दूर और पास होने से हमें गर्मी और सर्दी का अनुभव होता है। गर्मी के दिनों में सूर्य जम्बूद्वीप के अधिक निकट होता है और जब सर्दियों के दिन आते हैं तो सूर्य अपनी अन्य दूर की गलियों में चला जाता है। सूर्य की एक सौ चौरासी (184) गलियाँ होती हैं। इन्हीं गलियों में इसका निश्चित क्रम से भ्रमण होता है। इसी तरह से चन्द्रमा आदि का भ्रमण चलता रहता है।

आचार्य बताते हैं—चन्द्रमा से चार योजन ऊपर नक्षत्र होते हैं। उससे भी चार योजन ऊपर जाने पर बुधग्रह होता है। नक्षत्रों की संख्या अट्ठाइस (28) और ग्रहों की संख्या अट्ठासी (88) होती है। इन ग्रहों में जो मुख्य ग्रह है उसके विषय में यहाँ आचार्य कहते हैं—नक्षत्रों से चार योजन ऊपर जाने पर सर्वप्रथम हमें बुधग्रह मिलेगा। फिर, उसके तीन योजन ऊपर जाने पर शुक्र ग्रह मिलेगा। उसके भी तीन योजन ऊपर जाने पर बृहस्पति ग्रह मिलेगा और उसके भी तीन योजन ऊपर जाने पर मंगल ग्रह मिलेगा। विज्ञान कभी भी इतनी ऊपर जा ही नहीं सकता। विज्ञान कहता जरूर है कि हम मंगल ग्रह पर पहुँच गए, चन्द्रमा पर पहुँच गए लेकिन ऐसा संभव ही नहीं है। उनके विमान कहीं किसी पहाड़ी पर रूक गए या अन्य किसी ऐसी जगह रूक जाते हैं जिसे वे नाम दे देते हैं कि हम चन्द्रमा पर पहुँच गए या अन्य किसी ग्रह पर पहुँच गए। फिर लोगों को ठगने का कार्य यहीं से शुरू हो जाता है। इन सभी बातों का विवरण अब बहुत से वैज्ञानिक देने लगे हैं। क्योंकि एक नासा ही संसार में नहीं है, अन्य भी हैं। नासा तो अमेरिका की एक कम्पनी है। जहाँ सब कार्य एक योजना के तहत किया जाता है। यहाँ तक कि चन्द्रमा पर जाने की पूरी शूटिंग हुई है। ये सारी चीजें अमेरिका अपनी शक्ति को फैलाने के लिए करता है। रूस इसका विरोध करता है लेकिन उसकी चल नहीं पाती है। यह एक बहुत बड़ी भ्रान्ति है जो बहुत लोगों को नहीं पता है। रसिया के जो वैज्ञानिक है वे बताते हैं कि यह सब Fraud है और इसके प्रमाण भी देते हैं लेकिन कोई उसकी बात को नहीं मानता है क्योंकि सबका विश्वास नासा पर हो गया है। इसलिए भारतीय भी नासा की बातों को सच मानते हैं। ये सभी अपनी बुद्धि के भ्रम बन जाते है, बच्चे भी वैसा ही सोचने लगते हैं और वैसा ही उनको पढ़ाया जाता है। आचार्य कहते हैं—मंगल ग्रह से भी तीन योजन ऊपर शनि ग्रह होता है। जो जितनी दूर है उसका प्रभाव ही हमारे ऊपर सबसे अधिक पड़ता है और हमें उससे ही सबसे ज्यादा डर भी लगता है। हमें सूर्य या तारों का डर कभी नहीं लगता। हमें शनि का सबसे ज्यादा डर लगता है। जबकि वह सबसे ऊपर है। अपनी अज्ञानताओं के कारण हमने अपने अन्दर ये डर बैठा रखे हैं। लेकिन जो व्यक्ति Jain Philosophy पर विश्वास करता है उसे न शनि से डर लगता है न राहु—केतु—मंगल आदि से डर लगता है। यदि इस तरह की कभी कोई बात होती है तो आपको अपने सिद्धान्त पर विश्वास कभी कम नहीं करना चाहिए। सुनो चाहे कुछ भी लेकिन उन पर विश्वास मत करना। मंगल ग्रह पर प्लॉट बिक रहे हैं और आप लोग भी प्लॉट खरीदने पहुँच जाएं। क्योंकि यह सब लोगों से पैसा निकालने के नए—नए तरीके हैं। इस बात के प्रमाण भी सामने आ रहे हैं। आप में समझदारी होगी और आपको इन तत्त्वों पर श्रद्धान होगा तो आप बच जाओगे, अन्यथा आप इन सबमें उलझ जाओगे।

इन राहु और केतु के बारे में भी बताया जाता है कि सूर्य के विमान से एक योजन से कुछ कम दूरी पर हमेशा सूर्य के नीचे ही केतु का विमान होता है। चन्द्रमा के विमान से एक योजन से कुछ कम दूरी पर राहू का विमान रहता है। भ्रमण करते हुए कभी—कभी ऐसी अवस्था आ जाती है कि चन्द्रमा के आगे राहू का विमान कुछ समय के लिए आ जाता है।

जब सूर्य के विमान के सामने केतु का विमान आ जाता है तो इसे हम सूर्य–ग्रहण कहते हैं। यह ग्रहण कोई लम्बे समय के लिए नहीं होता है वे चल रहे होते है और चलते–चलते उनके विमान एक दूसरे के विमान के सामने आ जाते हैं। जितनी देर के लिए वे आमने–सामने रहेंगे उतनी ही देर के लिए वह ग्रहण लगेगा। इस तरह से यह सूर्य–ग्रहण और चन्द्र–ग्रहण का जैन धर्म में सैद्धान्तिक रूप में विवेचन किया गया है। आपको विस्तार से वर्णन जानना है तो 'तिलोयपण्णति' में इसका विस्तृत विवेचन किया गया है।

इस तरह शनि आदि के विमान बहुत ऊँचाई पर है। सात सौ नब्बे (790) से ऊपर एक सौ दस (110) योजन की एक पट्टी बन गई है। इस तरह ज्योतिष्क देवों के जो विमान होते हैं वे सात सौ नब्बे (790) योजन से प्रारम्भ होकर नौ सौ (900) योजन तक रहते हैं। यह एक चिंतन का विषय है। जब शनि ग्रह इतना ऊपर है तो उसका प्रभाव हमारे ऊपर कैसे पड़ सकता है?कुण्डली या जन्मपत्री बनती है तो उसके बारह खानों में कोई एक ग्रह जहाँ फिट होता है तो उसके बाद बाकी के ग्रह भी अपने आप फिट हो जाते हैं क्योंकि यह जन्मपत्री का सिद्धान्त है। उन बारह खानों में जो ग्रह जहाँ आ गया उसका उस ग्रह के अनुसार या नक्षत्र का प्रभाव एक दूसरे पर जो पड़ता है यही ज्योतिषी बताते हैं वह तो एक सामान्य बात है। क्योंकि प्रत्येक की एक सीमा नियत कर दी गई है। सूर्यग्रहण, चन्द्रग्रहण हमारे शरीर पर क्या प्रभाव पड़ता है?यह रंग आदि के माध्यम से निश्चित हो गया। इसी तरह से सभी नक्षत्रों और ग्रहों के प्रभाव भी निश्चित हो जाते हैं। ज्योतिष के अनुसार एक ग्रह आपका जहाँ पर स्थित होगा उसी के अनुसार अन्य ग्रहों की दशाएँ वहाँ पर बनने लग जाती है। यह गणित की गणना है और इसी गणित के अनुसार यह ग्रह अपने आप फिट हो जाते हैं। आज के समय में ये चीजें कम्प्यूटर और app के माध्यम से बहुत आसान हो गई हैं। आपको केवल जन्मपत्री में अपना जन्मदिन और समय डालना है और आपकी पूरी Detail खुलकर आ जाएगी। ये सभी वस्तुएं एक गणित के अनुसार नियत कर रखी हैं। जब राहु की दशा आएगी तो इतने समय तक राहु का काल रहेगा, इतने समय तक केतु का काल रहेगा, इतने समय तक शनि की दशा चलेगी। कुछ महादशाएँ बना देते हैं, जो आदमी के जीवन में लम्बे–लम्बे समय तक चलती है। किसी की दस वर्ष चलती है, किसी की बारह वर्ष चलती है और किसी की बीस वर्ष चलती है। इस गणना (Calculation) में आपके लिए जिस ग्रह की दशा चल रही है उस ग्रह के जो मोटे–मोटे ऊपरी प्रभाव हैं वे आपको देखने के लिए मिल जाएंगे। उसका भी एक गणित है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि सारे के सारे प्रभाव इसी गणित के अनुसार हमारे ऊपर चलें। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए कोई equation होती है उसमें जो वस्तु हम जहाँ नियत कर देंगे वह वस्तु वहीं फिट होकर आएगी। उसमें हम कोई भी वस्तु इधर–उधर नहीं कर सकते हैं। ऐसे ही बारह चक्रों में आपके जो ग्रह हैं, उन ग्रहों को नियत कर दिया गया और उसका एक गणित बन गया। उसी गणित के अनुसार जन्म से लेकर मृत्यु तक का data सब बनकर आ जाता है। हमें केवल यही सोचना है कि यह गणित हमारे लिए इतना ही काम करता है। हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि इसका प्रभाव हमारे ऊपर कितना पड़ रहा है। इसके कारण हम कोई दूसरा कार्य कर ही नहीं सकते या इसके

प्रभाव को कम करने के लिए हमें शनि की पूजा करनी चाहिए। तब इसका प्रभाव कम होगा और ऐसा सोचने से ही हमारे लिए उल्टी गिनती शुरू हो जाएगी।

मिथ्यात्व के कारण हमने सोच लिया कि इस ग्रह की पूजा करने से हम पर इस ग्रह के प्रभाव कम हो जाएंगे। इस तरह से पूजा आदि करने से ग्रहों का प्रभाव कोई कम नहीं होगा। जितने भी ग्रह हैं उनके प्रभाव आपको वैसे के वैसे ही अनुभव करने में आएंगे क्योंकि उन सब ग्रहों के अनुसार आपकी मानसिकता आगे–आगे बनती चली जाती है। उन्हीं ग्रहों के अनुसार आपके जीवन में भी परिवर्तन आने लगता है। ये सब ग्रह तो हैं लेकिन दूर से इनका प्रभाव हमारे ऊपर पड़ रहा है, हमें यह नहीं सोचना चाहिए। हमें कभी भी ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि इस ग्रह की पूजा करने से इस ग्रह की छाया या वेदना कम हो जाएगी।

जैन समाज में भी आज इतना अंधविश्वास फैल गया है कि एक–एक भगवान को एक–एक ग्रह के लिए नियत (फिक्स) कर दिया गया है। इस अज्ञानता में सभी बह रहे हैं। शनि ग्रह के लिए मुनिसुव्रतनाथ भगवान को फिक्स कर दिया है। क्योंकि काले रंग के भगवान है और काले रंग का ही ग्रह होता है तो शनिवार को मुनिसुव्रतनाथ भगवान की पूजा करो। सोमवार को चन्द्रप्रभु भगवान नियत (फिक्स) कर दिए। ऐसी अज्ञानता में बहकर आपने दिन नियत (फिक्स) कर लिए। भगवान नियत (फिक्स) कर दिए और ग्रहों को नियत (फिक्स) कर दिया। आपके ज्ञान में यह भी सही तरह से नहीं आ रहा है कि शनिवार को मुनिसुव्रतनाथ भगवान की पूजा करो, बुधवार को भ. महावीर की पूजा करो, यह भी मिथ्यात्व का एक भाव है। यह एक अलग बात है कि लोक तर्क दे देते हैं इसके कारण लोग अन्य जगहों पर तो नहीं जाते हैं। नवग्रह की शांति के लिए यहीं पर जिनेन्द्र भगवान की पूजा कर लेते हैं। लेकिन इससे भी कोई अधिक लाभ मिलने वाला नहीं है। जब तक आपके दिमाग में यह समीचीन ज्ञान नहीं होगा कि कोई भी भगवान किसी भी ग्रह की बाधा को दूर करने वाले नहीं होते हैं। आप जिनेन्द्र भगवान की आराधना करो तथा उनकी पूजा करो जिससे आपके पाप का प्रभाव कम होगा। लेकिन जब आपका मन नहीं मानता तो समझाने के लिए कह दिया जाता है कि शनिवार को मुनिसुव्रतनाथ भगवान की पूजा करो। आपके पाप कर्म मंद पड़ जाएंगे तो आपकी रूचि बन जाती हैं। रूचि बनेगी तो आप अधिक उत्साह से पूजा करेंगे तो अधिक पुण्य का बंध होगा। लेकिन सत्य यही है कि आप जिनेन्द्र भगवान की पूजा करो। आप किसी भी भगवान की किसी भी दिन पूजा करो। पूजन करने से आपकी जो भी बाधाएं है तथा पापकर्म हैं वे मंद भी पड़ सकते हैं। बाधाएं कम भी हो सकती हैं। लेकिन ऐसा जरूरी नहीं है कि वह समाप्त हो ही जाए। क्योंकि बहुत से पापकर्म ऐसे होते हैं जो अपना प्रभाव अवश्य दिखाते हैं। उन कर्मों का फल हमें अवश्य भोगना ही पड़ता है। यह सब नियत रहता है। यह सब अपने कर्मों के प्रभाव से ही, नक्षत्रों ग्रहों के ज्ञान के माध्यम से ही हमें बताया जाता है। यह सब अपने कर्मों का ही प्रभाव होता है।

यदि किसी व्यक्ति की मृत्यु निश्चित है कि इतने समय के पश्चात् इस रोग से अल्पायु में उसकी मृत्यु होगी, तो वह मृत्यु होती है। कभी–कभी ऐसा होता है कि कुछ आयु नियम से टूटी हुई होती हैं। उसमें मृत्यु निश्चित होती है। कुछ आयु ऐसी होती हैं जो पूरी टूटी हुई नहीं होती हैं जिसे अल्पायु कहते है। अगर किसी दुर्घटना में आप बच जाते हैं तो आगे का जीवन आप और जी सकते हैं। यह सब कुछ निश्चित होता है। पुण्य करेंगे तो संयम के माध्यम से पाप कर्म की छाया आपके ऊपर कम पड़ेगी और वही सबसे बड़ी छाया हैं, शनि–राहु–केतु तो बाद की बातें हैं। सबसे बड़ी छाया आपके पापकर्म की है जो आपके ऊपर पड़ी रहती है। यह छाया जिनेन्द्र भगवान की भक्ति, पूजा, आराधना से कम होती है। अगर आपके साथ पुण्य बंध गया हो, तो हो सकता है जो दुर्घटना आपके साथ घटने वाली है वह कम फल देकर टल जाती है। आपका पैर टूटना था लेकिन पुण्य कर्म की वजह से आप घर में ही गिर जाते हैं और थोड़ी बहुत मोच आ जाती है। अतः जो बड़ी घटना होनी थी वह छोटे रूप में घटित हो जाती है।

इसलिए हमें धारणा बनानी चाहिए कि हमें नवग्रह की पूजा इत्यादि के चक्कर में नहीं पड़ना हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नवग्रह के माध्यम से हम जिनेन्द्र भगवान की ही तो पूजा कर रहे हैं। आप सभी को यह ध्यान रखना चाहिए कि यह उनके लिए है जिन्हें जिनवाणी का बिल्कुल भी ज्ञान नहीं है। आपको जिनवाणी का ज्ञान मिला है तो आपको उस पूजा से कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए। अगर आपको मुनिसुव्रतनाथ भगवान की, शान्तिनाथ भगवान की या चौबीस तीर्थंकर भगवान में से किसी की पूजा करनी है तो किसी भी दिन कर लें, शनिवार या किसी अन्य दिन की प्रतीक्षा क्यों करनी है?अगर शनिवार को करना है तो शनिवार को कर लो। लेकिन इस पूजन के पीछे यह भाव नहीं होना चाहिए कि शनिवार को पूजा करने से हमारे शनिग्रह की छाया कम हो जाएगी। अगर आपके मन में भाव होंगे कि मेरे बच्चे का एडमिशन हो जाएगा, दुकान चलने लग जाएगी, इससे हमारे काम अच्छे चलने लग जाएंगे तो आपको कभी भी सम्यग्दर्शन प्राप्त होने वाला नहीं है। जो लोग अज्ञानता में जी रहे हैं उन्हें जीने दो। आपको ज्ञान मिल रहा है तो आप अपने विवेक से काम लो। अगर आप इस तरह की मिथ्या बातों को मन में रखते हो तो आज से ही उसका समापन कर लेना चाहिए।

अपने मन से इस मिथ्यात्व को हटा देना कि नवग्रह की पूजा करने से नवग्रहों की शान्ति होती है। आप चौबीस तीर्थंकरों की आराधना कीजिये जिससे आपकी सारी बाधाएँ एवं कष्ट स्वतः ही दूर हो जाएंगें। आप अपनी दृढ़ता बनाओ, ज्ञान से काम लो। आप किसी अन्य को मत देखो कि वह उस मंदिर में जा रहा है या उस बाबा के पास जा रहा है। आप अपने मन की स्थिरता बनाओ और अगर आप अपने ज्ञान से चलोंगे तो आपका धर्म आपके पास रहेगा। पृथ्वी नारंगी की तरह गोल नहीं अपितु थाली की तरह गोल है, यह सिद्ध करती हुई एक विज्ञप्ति विचारणीय है–

सर हेराल्ड, मद्रास, 9.1.38

1000/– यदि आप साबित कर सकते हैं, पृथ्वी गोल है।

एक अच्छी तरह से स्थापित वैज्ञानिक तथ्य यह है कि सभी जगह पानी अपना स्तर खुद ढूँढ़ लेता है, तार्किक श्री वोल्वा का तर्क कि सभी जगह स्थिर पानी पूरी तरह से स्तर पर है और सुएज़ नहर 100 मील मंबी है ओर दो समुद्रों के स्तर में केवल 6 इंच अंतर है, यह दर्शाता है कि पृथ्वी फ्लैट होना चाहिए।

अगर पृथ्वी में वक्रता होती तो दोनों स्तरों के बीच 6666 फीट का अंतर होता। एक छोर दूसरे की तुलना में बहुत ऊँचा होता या यह मध्य में बहुत ऊँचा होता।

उन्होंने पूछा कि क्या आप जानते हैं कि एक हवाई जहाज को पृथ्वी के साथ स्तर बनाए रखने के लिए हर घंटे 60000 फीट गिरना होगा, अगर पृथ्वी फ्लैट नहीं है तो।

यह अधिमानतः फ्लैट है, यदि आप एक ग्लोब को लेते हैं और इसे देखते हैं, लेकिन हर कोई जानता है कि हवाई जहाज 60000 फीट प्रति घंटे नहीं गिरता है, इसीलिए पृथ्वी सपाट ही होनी चाहिए।

विल्गर ग्लेन वोल्वा, जीयन सिटी, इलियोस, यू.एस. या टेलीफोन जीयन सिटी टू पर आवेदन करें।

''चन्द्रमा पर पहुँचना एक रहस्य''

डॉ0 सुधीर जैन का लेख भी विशेष रूप से पठनीय है–

हम विचार करें कि चन्द्रमा का स्वरूप कैसा है? जैन दर्शन में जो स्वरूप चन्द्रमा का बताया गया है विज्ञान उस रूप को अभी नहीं मानता, क्योंकि विज्ञान क्या है? एक Research अर्थात् हमेशा searched को ही ढूंढ़ता है अर्थात् जो खोजें हो चुकी है उनका पता लगाना।

उदाहरणों से विज्ञान (खोजों) की बात प्रारम्भ करते हैं।

❖ आजकल नवें ग्रह 'प्लूटो' पर विज्ञान की कुदृष्टि पड़ी है, वह कह रहा है कि प्लूटो ग्रह नहीं है कारण चौदह और तारे जो कि प्लूटो से बड़े हैं, उनको ग्रह नहीं माना जा सकता, परंतु अभी भी यह निर्णय अंतिम नहीं है। कल हो सकता है कक्षाओं में यह पढ़ाया जाय कि कुल ग्रह 22 हैं। परंतु जैन धर्म में ऐसी स्थिति नहीं है। श्री तत्त्वार्थसूत्र नामक ग्रंथ में तो केवल ग्रहों की ही नहीं, तारों की संख्या भी निश्चित कर लिखी गई थी। आज नहीं, अभी नहीं, लगभग 2000 वर्ष पूर्व। जैन धर्म के अनुसार चंद्रमा के परिवार में सूर्य के साथ 88 ग्रह, 28 नक्षत्र तथा 66975 कोड़ा कोड़ी तारे ज्ञात कर लेगा, तब यह मान लेना कि इस क्षेत्र में विज्ञान की खोज पूरी हो गई है।

- अभी हाल ही में वैज्ञानिकों में एक नई बहस की शुरुआत हुई है कि दो लगातार दिनों में निकलने वाली सूर्यों में समानता नहीं है अर्थात् आज के सूर्य की विशेषताएँ कल के सूर्य की विशेषताओं से मेल नहीं खाती हैं। हो सकता है कि जल्दी ही यह मान लिया जाये कि पृथ्वी पर दो सूर्य हैं जो कि alternate days में निकलते हैं। जैन दर्शन के लिये इसमें कुछ भी नया नहीं है क्योंकि जैन दर्शन पहले से ही जम्बूद्वीप में दो सूर्य व दो चन्द्रमा होने की बात करता है।

  पूर्व में ऐसे कई उदाहरण हैं, विज्ञान जिनको मानता तो है परंतु काफी देर से।

- जैसे जैन दर्शन (तत्त्वार्थसूत्र ग्रंथराज में 2000 वर्ष पहले से) अनादिकाल से मानता है कि पेड़–पौधों में जीवन है। विज्ञान ने कब माना? जब डॉ. जगदीश चन्द्र बसु ने सिद्ध किया।

- विज्ञान आइंस्टीन के सापेक्षता सिद्धांत के अनुसार कहता है कि पृथ्वी सूर्य के चारों तरफ चक्कर लगा रही है। (इससे पहले कुछ वर्षों तक विज्ञान यह मानता था कि सूर्य पृथ्वी का चक्कर लगा रहा है) परन्तु आजकल जिस आइंस्टीन के संदर्भ में विज्ञान ने यह माना कि पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगा रही है वे भी अपनी Theory of relativity के उपसंहार में यह लिख गये कि पृथ्वी व सूर्य में से एक स्थिर है तथा एक चक्कर लगा रहा है। आप इस चक्कर में ज्यादा ना पड़ें कि कौन स्थिर है तथा कौन चक्कर लगा रहा है। पृथ्वी सूर्य का चक्कर लगा रही है, आजकल यह इसलिये भी माना जाने लगा क्योंकि इससे गणतीय गणनाएँ आसानी से हल हो जाती हैं।

चन्द्रमा से पृथ्वी की दूरी

जैन दर्शन में चन्द्रमा पृथ्वी से (जम्बूद्वीप से) 880 योजन अर्थात् 35.2 लाख मील दूर है, परन्तु विज्ञान में इसके विभिन्न मत हैं। पहले रूस व अमेरिका के कई वैज्ञानिक चन्द्रमा को कभी 7 लाख, कभी 13 लाख तथा कभी 22 लाख मील दूर माना करते थे। इसी प्रकार फ्रांस व जर्मनी के वैज्ञानिक इस को कभी 5 लाख, 13 लाख व 21 लाख मील मानते थे। अमेरिका आर्मी कोर ने एक ''राडार'' के द्वारा 'प्रकाश बीम' भेजी जो कि 2.5 सेकेण्ड में चन्द्रमा पर पहुँची, अर्थात् देरी लगभग (2.53×3लाख km/sec) 7.66 लाख कि.मी.।

NASA की चन्द्र यात्रा

20 जुलाई 1969 में NASA (National Aeronautics & Space Administration) ने सर्वप्रथम यह दावा किया कि उसके साथ दो यात्री Neil Armstrong तथा Edwin Alderin चन्द्रमा की धरती पर उतरे हैं तथा उसके साथ–साथ उन्होंने चन्द्रमा के चित्र भेजे व चन्द्रमा के

यात्रियों से television के माध्यम से बात भी कराई गई एवं सभी ने मान लिया कि पृथ्वी के यात्री चन्द्रमा पर पहुँच गये।

इसके कुछ दिनों बाद ही इस पर बहस शुरू हुई कि चन्द्रमा पर मनुष्य का उतरना एक गलत प्रचार है तथा 15 मई 2001 को Fox Television Network ने एक कार्यक्रम conspiracy theory: Did We Land on Moon? प्रसारित किया। उसमें उन्होंने चन्द्रमा की व्यवस्था, उनके चित्र आदि का विश्लेषण करते हुए NASA से कुछ प्रश्न पूछे तथा तब से यह discussion शुरू हुआ। 2001 से उठा यह विवाद आज भी जारी है। जो कुछ भी प्रश्न इन चित्रों आदि के बारे में उठाये जाते रहे हैं उनके उत्तर भी दिये गये हैं परन्तु 100% संतुष्टि किसी को नहीं मिली तथा न ही 1972 के बाद किसी अन्य चन्द्र यात्रा का plan किया गया। यह एक विचारणीय विषय है।

अपनी बात प्रारम्भ करने से पूर्व मैं आपको बता दूँ कि यह जो विवेचना कर रहा हूँ वह जानकारी विभिन्न पुस्तकों तथा Internet ो ली गई है।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ में बताया कि चन्द्रमा की वास्तविक ऊँचाई क्या है? अभी तक एक उत्तर नहीं है, परन्तु आजकल पृथ्वी से चन्द्रमा की ऊँचाई लगभी 3.8 लाख किमी. पढ़ाई जाती है। इसका विवाद तभी सफल हो सकता है जब विज्ञान भी जैन दर्शन के समान चन्द्रमा की दूरी 880 योजन नहीं निकाल लेता।

चन्द्रमा की विशेषताएँ :–

जैन दर्शन के अनुसार

जैन दर्शन के अनुसार ज्योतिष्क चक्र इस पृथ्वी से 790 योजन से प्रारम्भ होकर 900 योजन तक होता है। इसमें सर्वप्रथम 790 योजन ऊँचाई पर तारे हैं तथा इससे 10 योजन ऊपर सूर्य का विमान है तथा सूर्य से 80 योजन ऊपर चन्द्रमा का विमान है अर्थात् पृथ्वी से 880 योजन दूर (यदि एक योजन 2000 कोश का तथा एक कोश दो मील मानें तो या 35.2 लाख मील दूर स्थित है।) इससे 4 योजन दूरी पर नक्षत्र तथा 4 योजन दूरी पर बुध ग्रह एवं तीन–तीन योजन दूरी पर क्रमशः शुक्र, गुरु, मंगल व शनि ग्रह मुख्य हैं।

इस ज्योतिष चक्र का इन्द्र चन्द्रमा होता है तथा चन्द्रमा के एक परिवार में एक सूर्य, 28 नक्षत्र, 88 ग्रह तथा 66975 कोड़ा–कोड़ी तारे हैं। जम्बूद्वीप में दो–दो सूर्य तथा चन्द्रमा एवं ढाई द्वीप में (जम्बू–2, लवण–4, घातकी–12, कालोदधि–42, पुष्करार्द्ध–72) 132 चन्द्रमा तथा 132 सूर्य हैं।

हमें जो गोल भाग दिखाई देता है वह ज्योतिष्की देवों के विमानों का नीचे वाला भाग है। ये विमान मेरू पर्वत के चारों ओर घूमते रहते हैं तथा इनसे ही दिन–रात होता है। सूर्य के नीचे केतु के तथा चन्द्रमा के नीचे राहु के विमान होते हैं। गति करते समय ये विमान सूर्य व चन्द्रमा को ढक देते हैं इससे ग्रहण पड़ता है। सूर्य व चन्द्रमा के मूल में उष्णता नहीं है परन्तु पृथ्वीकायिक जीवों के आतप कर्म के उदय से उसकी किरणें चमकती हैं तथा उष्णता प्राप्त होती है। इसी प्रकार इसके विपरीत यह माना जाता है कि जीवों के उद्योत नामकर्म के उदय से चन्द्रमा से निकलने वाली किरणें शीतलता को प्राप्त होती हैं।

विज्ञान के अनुसार

- विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा पृथ्वी का एक उपग्रह है इसकी पृथ्वी से लगभग दूरी 3.8 लाख किमी. है।
- चन्द्रमा पर कोई भी वायुमण्डल नहीं है।
- चन्द्रमा का कोई भी भाग काला नहीं हैं तथा यह सम्पूर्ण रूप से सूर्य से प्रकाशित होता है, इसका अपना कोई light source नहीं है।
- चन्द्रमा का अपना कोई चुम्बकीय क्षेत्र नहीं है।
- चन्द्रमा का तापमान सामान्यतः 250°F से 280°F के बीच रहता है।
- चन्द्रमा पर पानी नहीं है। (इस तापमान पर रह ही नहीं सकता।)

चन्द्र यात्रा की तस्वीरों का विश्लेषण

इस पहले चित्र को ध्यान से देखें, यह वही चित्र है जो कि moon landing में हमको दिखाया तथा course किताबों में पढ़ाया भी जाता है।

- इस चित्र में जो k भाग है वह इसलिये नहीं दिख रहा है क्योंकि सूर्य का प्रकाश दूसरी तरफ से आ रहा है अतः परछाई पड़ रही है, परन्तु उसके बगल में USA का झण्डा साफ चमक रहा है वह भी सूर्य के प्रकाश के विपरीत है अतः हमको झण्डा इस तरफ से काला (परछाई) दिखना चाहिये जबकि चित्र में झण्डे को चमकीला बतलाया जा रहा है।

चित्र क्र. 1

❖ इस चित्र में आकाश एकदम काला है अर्थात् आकाश में कोई भी तारा/ग्रह/चमकीली वस्तु दिखाई नहीं दे रही है, क्यों? विचारणीय है। जबकि चन्द्रमा के ऊपर एक सुन्दर तारों से भरा आकाश होना चाहिये।

❖ हमें बताया गया कि चन्द्रमा पर कोई वायुमण्डल नहीं है तब फिर USA का झण्डा इस प्रकार कैसे लहरा रहा है? झण्डे को लहराने के लिये हवा (winds) का होना आवश्यक है। बिना हवा के झण्डे को तो बिल्कुल नीचे होना चाहिये जैसा कि सामान्यतः दिखाई देता है, परन्तु ऐसा नहीं है। प्रश्न यह है कि बिना winds के USA का Flag इस प्रकार कैसे लहरा रहा है?

❖ इस चित्र आप वाहन के पहियों के निशान तथा चन्द्र यात्रियों के जूते के निशान देख रहे हैं। इसी प्रकार आपने पहले चित्र में चन्द्र यात्रियों के जूतों के भी देखे थे। इस प्रकार के निशान बनने के लिये धूल का होना आवश्यक है। इस चित्र में यह भी विशेषता है कि इसमें सभी निशान, चाहे वो कैमरे के पास के हों या कैमरे के दूर के हों, बिल्कुल स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं जो कि कैमरे के लैंस की auto focussing बता रहा है जबकि चन्द्र यात्रियों के पास केवल एक लैंस से fitted camera था। इतना साफ चित्र तो multi focussing वाले कैमरे से ही सम्भव हैं। आपको याद होगा कि चन्द्रमा पर हवा व पानी नहीं है, यदि चन्द्रमा पर ये दोनों नहीं है तो धूल कैसे बन सकती है, धूल के बनने के लिये हवा व पानी आवश्यक है अर्थात् चन्द्रमा पर धूल होनी ही नहीं चाहिये।

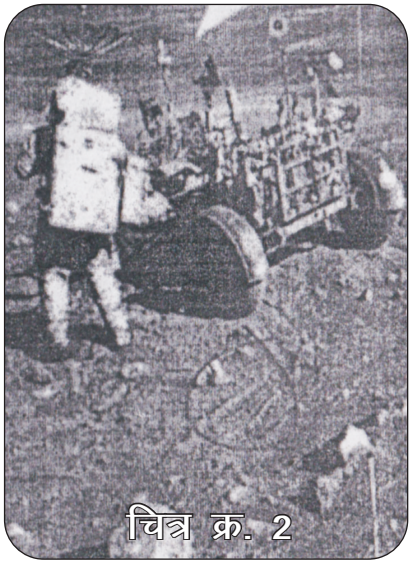
चित्र क्र. 2

❖ इस चित्र को देखने से पता लगता है कि Neil Armstrong की छाया Alderin की छाया से लम्बी है। चन्द्रमा पर सूर्य ही केवल एक प्रकाश स्त्रोत है अतः दोनों की छाया की लम्बाइयाँ एक समान होनी चाहिये। चित्र देखने से ऐसा लगता है कि चित्र खींचते समय एक से ज्यादा प्रकाश स्त्रोतों का उपयोग किया गया। चन्द्रमा पर एक प्रकाश स्त्रोत से अलग–अलग लम्बाई की छाया हो ही नहीं सकती।

चित्र क्र. 3

❖ ऐसे और कई चित्र हमें चन्द्रमा से प्राप्त हुए जिसमें परछाइयाँ हमें अलग–अलग दिशाओं से प्राप्त हुई। चूँकि चन्द्रमा पर प्रकाश स्त्रोत केवल सूर्य है तो सभी परछाइयों की दिशाये एक ही होना चाहिये। आप चित्र क्र. 4 में देखें इसमें अलग–अलग दिशाओं में परछाइयाँ हैं। तीरों को

आप ध्यान से देखेंगे तो पायेंगे कि अलग–अलग वस्तुओं की परछाई अलग–अलग दिशाओं में पड़ रही है जो कि कई प्रकाश स्त्रोतों के उपयोग से ही सम्भव है या ऐसा लगता है कि कई चित्रों को मिलाकर इस चित्र को बनाया गया है।

चित्र क्र. 4

❖ आप चित्र क्र. 5 देखिये। यह चित्र अपोलो यान के वापिस लौटते समय का है। यान को वापिस लाने वाली flares स्पष्ट दिख रही हैं परन्तु प्रश्न यह उठता है कि वापिस लौटते समय इस अपोलो यान का फोटो आखिर खींचा किसने?

चित्र क्र. 5

ये तो उदाहरण के लिये कुछ चित्र हैं जो मैंने आपके सामने कुछ तथ्य रखे, पर यह बात यहाँ पर समाप्त नहीं होती है। कुछ अन्य सवाल और उठाये गये, उनमें से कुछ हैं :–

❖ चन्द्रमा पर तापमान 250°F से 280°F (140°C से 160°C) रहता है तो इस तापमान पर कैमरे की रील पिघल कर एक बॉल के रूप में सिकुड़ जाना चाहिये। फिर भी स्पष्ट फोटो खींचे गये। 1969 में क्या multi lens व multi focus वाला कैमरा चन्द्र यात्री अपने साथ ले गये थे जिससे इतने साफ फोटो खींचे जा सकें।

❖ ऐसा कहा जाता है कि Neil Armstrong ने सबसे पहले चन्द्रमा पर कदम रखा इसका एक फोटो भी दिखाया जाता है। यदि Neil Armstrong चन्द्रमा पर कदम रखने वाले पहले व्यक्ति थे तो उनको चन्द्रमा पर पहला कदम रखते हुए दिखाने वाला फोटो किसने खींचा?

❖ अपोलो यान जब चन्द्रमा पर उतरा (कहने की आवश्यकता नहीं कि उसका वजन लगभग 30,000 पौण्ड था)। तब काफी flares भी थी। तब उतरते समय वजन के कारण तथा flares के कारण एक गड्ढा हो जाना चाहिये, परन्तु सभी चित्रों में यान का स्टैण्ड ठीक से चन्द्रमा पर रखा है, यह कैसे सम्भव है जबकि नील आर्मस्ट्रांग का पैर 6 इंच तक धूल में अन्दर चला गया था। (चित्र क्र. 2)

❖ इसी प्रकार पृथ्वी से करीब 300 किमी. की ऊँचाई पर एक radiation belt (जिसका नाम Van Allan radiation belt है जिसमें से कोई भी मनुष्य निकल नहीं सकता। यदि कोई मनुष्य इसमें से निकलने की कोशिश भी करता है तो उस पर 300 रेडियन से ज्यादा radiation पड़ेगा तथा वह जिन्दा नहीं रह सकता। यदि किसी मनुष्य को इस belt से निकलना है तो उसे कम से कम 4 फीट मोटी सीसे (Lead) की शीट से ढकना होगा। तब यह प्रश्न उठता है कि क्या चन्द्र यात्री 4 फीट मोटी सीसे से बना space suit पहने थे?

डॉ. सुधीर जैन के लेख से बहुत सारी शंकाएँ उत्पन्न होती हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि मनुष्य चाँद पर नहीं पहुँचा है। जैन भूगोल के अनुसार मानव का चन्द्रमा पर पहुँचना सम्भव भी नहीं है।

एक गाथा के माध्यम से उन ग्रहों और नक्षत्रों के नाम और ऊँचाइयों के बारे में बताते हुए आचार्य लिखते हैं–

''णउदुत्तरसत्तसया दससीदी चदुगं तियचउक्कं।
तारारविससिरिक्खा बुहभग्गवगुरुअंगिरासणी।। त्रिलोकसार–332

गाथार्थ–सात सौ नब्बे, दस, अस्सी, चार, चार, तीन, तीन, तीन और तीन योजन ऊपर क्रम से तारा, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, बुध, शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनैश्चर के विमान हैं।

आगे के सूत्र में ज्योतिष्क देवों में विशेषता के विषय में आचार्य कहते हैं–

मेरुप्रदक्षिणा नित्यगतयो नृलोके।।13।।

अर्थ– ज्योतिष्क देव मनुष्य लोक में मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए हमेशा गमन करते रहते हैं।

ये ज्योतिषी देव मनुष्य लोक में मेरु पर्वत से ग्यारह सौ इक्कीस (1121) योजन की दूरी बनाकर उन गलियों में चक्कर लगाते हैं। नृलोक अर्थात् मनुष्य लोक (ढाई द्वीप) जिसका व्यास 45 लाख योजन हैं। इस जम्बूद्वीप के मध्य में मेरु पर्वत है वे इस मेरु की प्रदक्षिणा लगाते हैं। निरन्तर

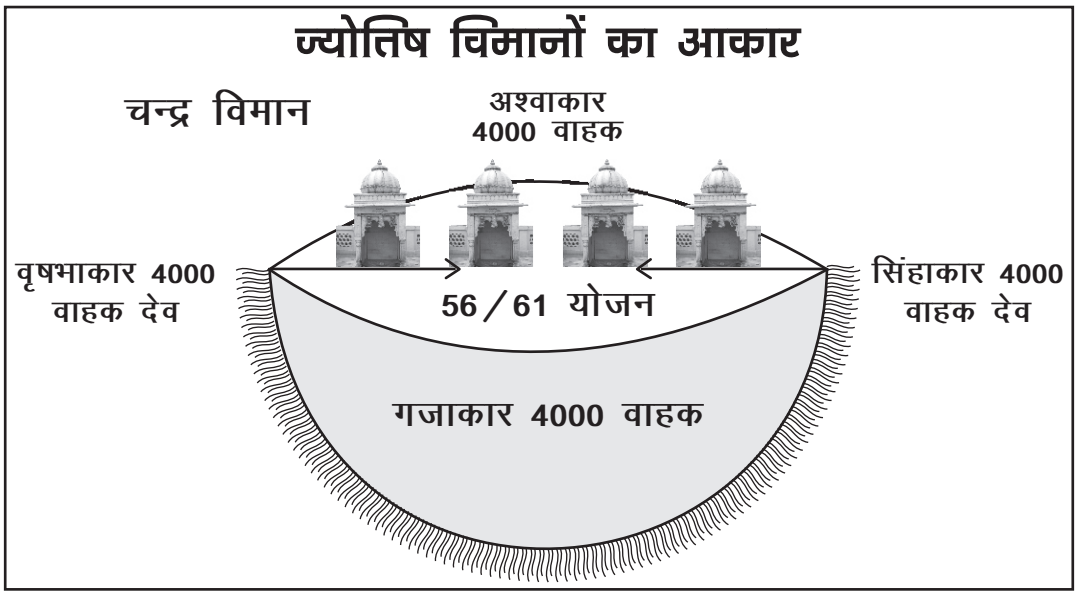

गतिमान रहते हैं। ये कभी भी रुकते नहीं हैं। जिन देवों के चलने की या भ्रमण करने की स्थिति है वे भ्रमण ही करते रहते हैं। ये मनुष्यलोक में नियम से गति करने वाले ही होते हैं। कुछ ज्योतिषी देव ऐसे होते हैं जो भ्रमण नहीं करते हैं। लेकिन मनुष्य लोक में नियामकता है कि यदि गति होगी तो वह मनुष्य लोक में ही होगी। प्रदक्षिणा शब्द भी अपने आप में बहुत महत्वपूर्ण है। प्रदक्षिणा का अर्थ होता है सामने वाले के दक्षिण भाग को अपने आगे करके उसकी प्रदक्षिणा लगाना। मुनि महाराज आपके सामने खड़े हैं आप उनको दायें रखकर परिक्रमा लगाना।

ये देव मेरू की प्रदक्षिणा करते हुए निरन्तर गतिमान रहते हैं। 'नित्यगतयो' का अर्थ है–निरन्तर इनकी गति बनी रहती है। इनकी गति किन–किन जगहों पर होती है?आचार्य कहते हैं दो समुद्र और ढाई द्वीप यह पूरा मनुष्य लोक कहलाता है, इनमें गति होती है।

काल का विभाजन किस तरह होता है?आचार्य कहते हैं–

तत्कृतः कालविभागः।।14।।

अर्थ– घड़ी, घण्टा, दिन, रात आदि व्यवहार काल का विभाग उन्हीं गतिशील ज्योतिष्क देवों के द्वारा होता है।

पिछले सूत्र में बताया गया था कि ज्योतिष्क देव मेरू की प्रदक्षिणा करते हैं, नित्य गतिमान रहते हैं और मनुष्यलोक में उनके विमान आदि हैं। मनुष्यलोक में उन गतिमान ज्योतिष्क देवों की स्थिति भी बताई गई थी। यदि कुछ तारे इत्यादि स्थिर रहते हैं तो वे 'नित्यगति' इस विशेषण से बाधित होते हैं या नहीं। इसका समाधान यह निकलता है कि अगर कोई तारे इत्यादि कहीं स्थिर भी हों तो नृलोक (मनुष्य लोक) में दोनों प्रकार के ज्योतिष्क देव हो सकते हैं। कुछ ज्योतिष्क देव स्थिर भी होते हैं और कुछ भ्रमण करने वाले होते हैं।

यहाँ यह बताया गया है कि अगर भ्रमण करने वाले ज्योतिष्क देव होंगे तो वे मनुष्य लोक में ही होंगे। इन ज्योतिष्क देवों के भ्रमण द्वारा क्या–क्या होने लगता है?इसका प्रभाव क्या पड़ने लगता है? उसी के विषय में इस सूत्र में बताया जा रहा है।

इन ज्योतिष्क देवों के द्वारा ही काल का विभाग होता है। 'तत्' से तात्पर्य जो चलने वाले ज्योतिष्क देव होते हैं उन्हीं के द्वारा काल का विभाजन होता है। जो स्थिर रहेंगे, भ्रमण नहीं करेंगे तो उनके माध्यम से काल का विभाजन नहीं हो सकता है।

आचार्य कहते हैं केवल गति के द्वारा या ज्योतिष्क देवों के भ्रमण द्वारा ही काल का विभाजन नहीं हो जाता है। क्योंकि जो काल है वह स्वयं में एक पृथक् द्रव्य है। वह पृथक् द्रव्य अपने स्वरूप में भी परिणमन का कारण होता है और दूसरों के भी परिणमन में हेतु बनता है। छह द्रव्यों में कालद्रव्य को भी द्रव्य के रूप में माना गया है। कालद्रव्य दिखाई नहीं देता, फिर भी वह पूरे ब्रह्माण्ड में काल के रूप में प्रतिष्ठित है। उसका एक–एक कालाणु लोकाकाश के एक–एक बिन्दु (प्रदेश) पर स्थित है।

इसे प्रदेश संज्ञा से कहा जाता है। एक–एक प्रदेश पर, एक–एक काल का अणु अवस्थित रहता है। जितना बड़ा लोकाकाश है उतने ही उसमें कालाणु समाहित हो जाते हैं। कालाणु असंख्यात होते हैं। कालद्रव्य भी असंख्यात हो जाते हैं। यह निश्चयकाल कहा जाता है। जो कालाणु के रूप में है, कालद्रव्य के रूप में है उसे निश्चयकाल कहा जाता है। क्योंकि जो काल की उत्पत्ति हो रही है जिसे हम काल की गणना के रूप में जान जा रहे हैं वह इसी निश्चयकाल की परिणति होती है।

कहने का तात्पर्य है कि आज का विज्ञान इस काल द्रव्य को नहीं जानता है। वह केवल काल की गणना करता है। जैसे हम दो वर्ष, सौ वर्ष, हजार वर्ष, लाख वर्ष जो गिन रहे हैं उसे आचार्य व्यवहार काल कहते हैं। इस तरह काल के दो भेद हो जाते हैं–व्यवहार काल और निश्चय काल। जो कालाणु के रूप में है उसे निश्चयकाल कहते हैं और उसी के कारण अन्य द्रव्यों में जो परिवर्तन होता है उस परिवर्तन को हम समय, सेकिण्ड, मिनट, घण्टों में गिन रहे हैं उसे व्यवहार काल कहते हैं। इस व्यवहार काल में और भी अनेक गतिमान द्रव्यों का संयोग बन जाता है। उसी के विषय में आचार्य बताते हैं कि काल दो प्रकार का होता है व्यवहार काल और मुख्य (निश्चय) काल। व्यवहारिक जो काल का विभाग है वह निश्चय या मुख्य काल के द्वारा ही किया जाता है। जो समय है, समय का अर्थ एक समय, दो समय, तीन समय आदि गिने जाते हैं। असंख्यात समयों की एक आवली हो जाती है, असंख्यात आवली का एक सेकिण्ड हो जाता है, साठ सेकिण्ड का एक मिनट हो जाता है, मिनट से घण्टे आदि जो बनते चले जाते हैं। ये सब व्यवहार काल कहलाता हैं। उसमें ज्योतिष्क देवों का गतिमान होना भी एक कारण है। चौबीस घण्टे का एक दिन–रात हो जाता है। यह दिन–रात किसने विभाजित किया? स्पष्ट है कि दिन–रात का विभाजन इन ज्योतिष्क देवों के द्वारा ही हो जाता हैं। ज्योतिषी देवों का गमन निरन्तर चलता रहता है और इन्हीं के गमन से एक दिन और रात का अनुमान पूरा का पूरा बन जाता है। एक पूरी की पूरी गणना इनके माध्यम से हो जाती है। इसलिए इस सूत्र में कहा गया है कि इन ज्योतिषी देवों के गमन द्वारा ही काल का विभाजन हो जाता है। क्योंकि जब सूर्य आता है, चला जाता है। चन्द्र आता है वह भी चला जाता है। अगले दिन का सूर्य आते ही चौबीस घण्टे पूरे हो जाते हैं। इन चौबीस घण्टों में ये गतिमान ज्योतिष्क देव निरन्तर भ्रमण करते रहते हैं। यहाँ पर जो काल का विभाजन हुआ वही विभाजन हमेशा हर जगह पर मान्य होता है। चाहे नन्दीश्वर पर्व के दिन आएं या फिर दशलक्षण पर्व के दिन आएं।

अष्टान्हिका पर्व – नन्दीश्वर पर्व या अष्टान्हिक के पर्व वर्ष में तीन बार आते हैं। आषाढ़, फाल्गुन और कार्तिक इन तीन महीनों में अष्टान्हिका पर्व आते हैं। उस पर्व में आठ दिनों तक, दिन और रात देव लोग नन्दीश्वर द्वीप में जाकर पूजन करते हैं। वहीं पर उन जिन बिम्बों की पूजा अर्चना करते हैं। उन देवों को यह कैसे पता चलता है कि यह आषाढ़ का महीना आ गया या यह कार्तिक अथवा फाल्गुन का महीना आ गया? क्योंकि देवों के यहाँ तो दिन और रात का कोई विभाजन नहीं होता है। नन्दीश्वर द्वीप में भी जाकर वह आठ दिन गिनेंगे कि हमें यहाँ पर आठ दिनों तक रहकर भगवान की निरन्तर पूजा आराधना करनी है। उन देवों को जो यह ज्ञात हो रहा है कि यह आषाढ़ का महीना है

या कार्तिक का महीना है। यह जो ऋतु परिवर्तन होकर अष्टान्हिक का समय आ गया। यह इन्हीं ज्योतिषी देवों के काल के विभाजन के माध्यम से होता है। उस काल का विभाजन जो यहाँ भरतक्षेत्र में चल रहा है उसके माध्यम से हो रहा है। जहाँ पर सूर्य और चन्द्रमा प्रतिदिन गमन करते हुए दिन–रात के माध्यम से अपनी पूरी परिक्रमा लगा लेते हैं वहीं पर ये दिन और रात के विभाजन से सारी गणना मान्य होती है। उन्हीं क्षेत्र को मान्य करके देव लोग भी उसी प्रकार गणना करते हैं। यदि देखा जाए तो आर्यखण्ड पूरा का पूरा विश्व है। अमेरिका, जापान, चीन आदि–आदि देश सभी इसी आर्यखण्ड में आते हैं। लेकिन देव लोग यदि माह का पता लगाएंगे कि कौन सा माह चल रहा है? तो वे भी इस भारत में देखकर ही पता लगाएंगे। क्योंकि कई ऐसे भी देश है जहाँ पर चौबीस घण्टे तक दिन ही बना रहता है। कुछ देश ऐसे भी है जहाँ छह–छह महीनों तक दिन और रात का कोई विभाजन नहीं होता है। कई ऐसे देश हैं जहाँ केवल ठण्ड ही पड़ती है और कुछ ऐसे भी देश हैं जहाँ केवल गर्मी ही पड़ती है। जब इस तरह के देशों में ऋतुओं का कोई परिवर्तन ही नहीं, दिन और रात का कोई विभाजन ही नहीं तो वहाँ के लोगों में धर्म कर्म करने का सही भाव कैसे आ सकता है?

वहाँ पर रहने वाले लोगों के मन में विचार नहीं आता कि दिन रात का प्रयोजन क्या है? यह विभाजन भी उनकी दैनिक क्रिया में नहीं आता है। क्योंकि दिन में क्या करना चाहिए?रात में क्या करना चाहिए?वहाँ तो दिन और रात सभी बराबर है। यहाँ का व्यक्ति जानता है कि हमें दिन में कार्य करना चाहिए और रात्रि में विश्राम करना चाहिए। वहाँ के दिन और रात कोई भी निश्चित अवधि को लेकर नहीं चलते हैं। इसलिए इस भारतवर्ष में जहाँ पर दिन–रात व्यवस्थित ढंग से चलते हैं, जहाँ पर ऋतुओं का विभाजन सही ढंग से चलता है, यहीं के समय के अनुसार ही देव लोग भी अपना समय मिलाया करते हैं। क्योंकि वहाँ न कलैण्डर हैं, न घड़ियाँ हैं। वह अपना अवधिज्ञान भी यहाँ रहने वाले लोगों के समय के अनुसार ही लगाएंगे।

कई लोग प्रश्न करते हैं कि महाराज दूसरे देशों में जैनधर्म क्यों नहीं है?इसका उत्तर यही है कि जहाँ ऋतुओं का विभाजन सही ढंग से नहीं है तथा काल के अनुसार धर्म करने की मर्यादाएं नहीं हैं वहाँ पर जैनधर्म रह ही नहीं सकता है। इसी कारण जैनधर्म मुख्य रूप से भारत देश में ही होता है।

भारतवर्ष का महत्त्व – देव भी अपना काल मिलाएंगे तो यहीं से मिलाएंगे। आप कितने सौभाग्यशाली हैं कि देव लोग आपकी घड़ी को देखकर अपनी घड़ी मिलाते हैं, भले ही अमेरिका और जापान से घड़ियां बनकर भारत में आती हो। यहाँ पर जैसे ही कार्तिक, फाल्गुन और आषाढ़ का महीना आएगा और उनके अन्त के आठ दिन यहाँ शुरू होंगे और देवों की नन्दीश्वर द्वीप में जाने की तैयारियाँ शुरू होने लगेंगी। हमें समझना चाहिए कि हमारे इस काल और इस देश का कितना बड़ा महत्व है। आज के बच्चों को हम अपने देश और काल का महत्व नहीं समझा पाते हैं। जबकि इस ढ़ंग से हम उन्हें अपने देश और काल का महत्व समझा सकते हैं। यही देश और काल का महत्व

समझ में आने पर हमें समझ आएगा कि भारत से बाहर के देश और काल में हमें अगर कुछ अच्छा लगता है तो केवल वहाँ का रहन–सहन, वहाँ घूमने के लिए वाहन–कारें, केवल यही अच्छी लगती हैं। वहाँ न कोई संस्कृति है, न आपस में प्रेम व्यवहार की बातें हैं और न वहाँ पर कोई समाज आदि हैं। वहाँ किसी भी प्रकार की ऐसी चीजें नहीं है जो हमारे जीवन को अच्छे मूल्यांकन के लिए अच्छी गुणवत्ता प्रदान करें। ये सब चीजें जहाँ नहीं होती है तो वहाँ धर्म का पालन कैसे हो सकता है?यह बात अलग है कि कुछ लोग मजबूरी के कारण वहाँ रहकर धर्म का पालन करते हैं। अगर देखा जाए तो वास्तविक रूप में जो धर्म का वातावरण आवश्यक होता है वह वहाँ पर नहीं मिल सकता।

खान–पान – खान–पान की सामग्री जितनी शुद्ध मिलनी चाहिए वह भी वहाँ पर नहीं मिलती है। आपको यहाँ खान–पान की सामग्री में प्रतिदिन शुद्ध पानी एवं सब्जियां मिलती हैं। लेकिन वहाँ पर ऐसा नहीं है। वहाँ पर पैकिटों का पानी मिलता है जिसकी कोई मर्यादा ही नहीं होती है कि कितने दिनों का यह पानी हमें प्राप्त हो रहा है। सब्जियों को भी फ्रिज में हफ्तों–हफ्तों तक रखना पड़ता है। रोज–रोज ताजी सब्जियां, फल, कुएँ का शुद्ध जल यह सब कुछ आपको भारत में ही प्राप्त होगा। ये सभी देश ऐसे समुद्रों के किनारे पर बसे हुए हैं कि जहाँ पर कोई सभ्यता नहीं है, धर्म करने का कोई वातावरण नहीं है किसी भी तरह का धार्मिकता का भाव नहीं है। उनको केवल अपना जीवन निर्वाह करना है। वे केवल शान–शौकत में जीते है, घूमते और फिरते हैं। दिन और रात से वहाँ कोई प्रयोजन ही नहीं है। अगर आप ऐसी संस्कृति को अच्छा मानते हैं और आपके लिए जो यह माहौल मिल रहा है इस माहौल के प्रति अगर आपको द्वेष या अरति भाव उत्पन्न हो जाएगा तो आपके इसी तरह के कर्म बंधेंगे कि अगले जन्म में चीन, जापान, अमेरिका जैसे देशों में आपकी उत्पत्ति होगी। यह एक बहुत बड़ा कर्म सिद्धान्त है जिसे हमेशा ध्यान में रखना चाहिए। हम जैसी रूचि करेंगे उसी तरह के हमारे कर्म बंधेंगे और हमको वहीं पर ले जाएंगे। आज हम अपने बच्चों को पढ़ने के लिए बाहर भेज देते हैं उन्हें फिर बाहर की संस्कृति ही अच्छी लगने लगी तो उनके मन में आता है कि हम जहाँ रह रहे हैं वहीं की संस्कृति और सभ्यता अच्छी है। इस तरह आप अगले कई जन्मों तक उनका भविष्य बिगाड़ देते हैं। आप यह विचार में मत लाना कि केवल इस जन्म को आपने व्यर्थ कर दिया।

शंका– बच्चों को दूसरे देश में भेजने पर उनके कई जन्म क्यों बिगड़ जाते हैं ?

समाधान– क्योंकि उनकी उन देशों को अच्छा मानने की इच्छा से जो कर्म बंध गए, उस इच्छा से उनकी उत्पत्ति भी उन्हीं देशों में होगी। वहीं पर जन्म लेने से जैनधर्म कहाँ?आत्मा की बात कहाँ? मोक्ष क्या होता है?यह चर्चा तो उनके लिए कई जन्मों तक छूट जाती है।

आप अपने बच्चे को विदेश भेजकर अपना Status बढ़ा लेते हो। आपको खुशी मिल जाती है। आपको आपका बेटा पैसा भेजता रहता है और आपका काम चलता रहता है। आपने कभी इस पर विचार नहीं किया कि आपने उसके कितने जन्म बिगाड़ दिए।

देश व काल का महत्त्व –

यह ज्ञान भी आपको इस सिद्धान्त ग्रन्थ को पढ़कर ही समझ आएगा कि काल का विभाजन भी कितना महत्वपूर्ण होता है। जहाँ पर सही ढंग से काल का विभाजन होता है, सही ढंग से ऋतुएं चलती हैं, वहाँ पर जन्म लेकर अपने अंदर जैनत्व के भाव होना, जिनवाणी की शरण मिलना और उसमें भी तत्त्व की बातें सुनने के लिए मिलना। ये सब अपने लिए बहुत दुर्लभ होती हैं। इन दुर्लभ चीजों को प्राप्त करके भी हम इनका महत्व नहीं समझेंगे तो इसका अर्थ यही होगा कि हमें रत्न तो मिला लेकिन उसको हमने कौए को उड़ाने में फेंक दिया। इस तरह की स्थितियाँ आज बनती चली जा रही हैं। आपकी बुद्धि में यह बात नहीं आ रही कि बच्चों का भविष्य तो बिगड़ ही रहा है। साथ ही साथ, उनके जन्म–जन्म भी बिगड़ते चले जा रहे हैं। इसलिए जहाँ बच्चे पढ़ते है, जिस संस्कृति को देखते हैं, वहीं पर बड़े होते हैं और वहीं पर आगे चलकर फिर कभी जन्म लेंगे। यहाँ पढ़ेंगे तो शायद उन्हें यह सौभाग्य मिल सकता है कि इस जन्म में उन्हें जिनवाणी का कोई सार सुनने को नहीं मिला तो अगले जन्म में मिल जाए, ऐसी संभावना तो रहती है। लेकिन अगर उनकी उत्पत्ति अन्य किसी देश में हो गई तो फिर वहाँ तो कोई संभावना ही नहीं रहती।

वहाँ पर ऋतुओं का कोई परिवर्तन ही नहीं होता है। कुछ ऐसे ठंडे देश भी हैं जो बिना Non-Veg खाए रह ही नहीं सकते हैं। दिन में एक बार वे अवश्य Non-Veg को खाते हैं और बाकी के समय में जो मोटी–मोटी ब्रेडें आती हैं उनको खाकर अपना काम चला लेते हैं। यही वहाँ की सभ्यता है। हमारे जैन बच्चे जिनके अंदर जैनत्व के संस्कार पड़े हैं वे अपने को वहाँ adjust नहीं कर पाते हैं और वापस चले आते हैं। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं जो वहीं की Culture में adjust हो जाते हैं तो उन्हें किसी भी प्रकार की कोई समस्या नहीं होती हैं। यह सब संस्कारों का फल है।

मुख्य बात यह है कि हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारे लिए काल का विभाजन बहुत महत्वपूर्ण हैं। इसलिए जो ज्योतिषी देवों के द्वारा काल का विभाजन, ऋतु–परिवर्तन हो रहा है वह केवल मुख्य रूप से भारत में ही होता है। यहीं के समय के अनुसार देव लोग भी चलते हैं।

दिन–रात सदैव एक जैसे –

कुछ लोग सोचते हैं कि देवों के दिन और रात अलग होते हैं या चौथे काल में जो दिन–रात होते थे वे अलग ही होते होंगे। ये सब गलत धारणाएं हैं। ऐसा कुछ भी नहीं होता है। चौबीस घण्टे का ही एक दिन–रात गिना जाता है। चाहे वह चौथा काल हो, तृतीय काल हो अथवा पंचम काल हो। प्रत्येक काल में इसी प्रकार से रात–दिन चलते हैं।

यहाँ कहा जा रहा है कि इस व्यवहार काल में ज्योतिषी देवों का गमन भी एक मुख्य कारण बन जाता है।

आगे के सूत्र में आचार्य कहते हैं–

बहिरवस्थिताः ।।15।।

अर्थ– मनुष्यलोक अर्थात् अढ़ाई द्वीप से बाहर के ज्योतिष्क देव स्थिर (अवस्थित) रहते हैं।

इस सूत्र में आचार्य कहते हैं–इस मनुष्य लोक के बाहर भी बहुत से ज्योतिषी देव होते हैं। वे सभी ज्योतिषी देव अवस्थित हैं। कहने का तात्पर्य है कि मनुष्य लोक के बाहर जितने भी ज्योतिषी देव हैं वे सभी नियम से स्थिर ही होते हैं। इससे यह पता चलता है ज्योतिषी देवों की स्थिति लोक के अन्त तक है। तीन लोक के नक्शे में जो तिर्यग् लोक का अन्तिम भाग जहाँ आएगा वहाँ तक ज्योतिषी देवों का निवास स्थान है अर्थात् असंख्यात द्वीप और समुद्र जो बीच में आते हैं उन सबके ऊपर ज्योतिषी देव रहते हैं। इससे पता लगता है आगे के द्वीप और समुद्रों में दिन और रात का विभाजन नहीं है। ज्योतिषी देवों का जैसा प्रकाश वहाँ पर स्थित है वैसा ही प्रकाश बना रहेगा। इसलिए बाहर दिन और रात का कोई विभाजन नहीं हैं और ज्योतिषी देव नियम से अवस्थित ही रहते हैं। इनका यह अवस्थित रूप इस सूत्र के पृथक् लिखने से भी स्पष्ट हो जाता है।

आगे के सूत्र में वैमानिक देवों का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं।

वैमानिकाः ।।16।।

अर्थ– जो देव विमान में रहते हैं। उन्हें वैमानिक देव कहते हैं। (ये चतुर्थ निकाय के देव हैं।)

यहाँ से वैमानिक देवों का वर्णन प्रारम्भ होता है। इस सूत्र में आचार्य 'वैमानिकाः' लिखते हैं। यहाँ केवल 'वैमानिकाः' लिखने से इस सूत्र का क्या प्रयोजन है? क्योंकि वैमानिक देव होते हैं यह तो पहले ही सूत्र में बताया जा चुका है। इस सूत्र को पृथक् लिखने की क्या आवश्यकता पड़ गई?आचार्य कभी भी सूत्र–ग्रंथ में बिना प्रयोजन एक अक्षर भी नहीं लिखते हैं और यहाँ तो पूरा एक सूत्र बना दिया। जब भवनवासी देवों का वर्णन आया था तब तो वहाँ 'भवनवासिनाः' या व्यन्तर देवों का वर्णन आया तो 'व्यंतराः' वहाँ इस तरह अलग से कोई सूत्र नहीं लिखा था या ज्योतिषी देवों का वर्णन करते समय 'ज्योतिष्काः' इस तरह से किसी भी देव निकाय का वर्णन करते समय अलग से कोई सूत्र नहीं लिखा था। यहाँ जब वैमानिक देवों का वर्णन आया तो अलग से एक सूत्र बनाया। आखिर क्यों? आचार्य इसका समाधान करते हुए लिखते हैं क्योंकि ये विशेष देव है इसलिए इनका वर्णन करने से पहले हम आपको सचेत कर रहे हैं कि अब वैमानिक देवों का प्रकरण शुरू हो रहा है। क्योंकि इन देवों की महत्ता सर्वाधिक है। उनकी महत्ता को दर्शाने के लिए इस सूत्र को अलग से लिखा गया है।

आचार्य विमान की परिभाषा बतलाते हुए लिखते हैं–उसमें उत्पन्न होने वाले देव भी मानते हैं कि हम बड़े पुण्य कर्म करने के कारण ही यहाँ पर उत्पन्न हुए हैं। सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेन्द्र इन देवों के विमानों को ही मुख्यता से विमान कहा गया है। क्योंकि इन देवों को जो मान–सम्मान मिलता है वह उन देवों को नहीं मिलता जो ज्योतिषी देवों में उत्पन्न हो जाते हैं। वैमानिक शब्द

वैमानिक देव

नाम	इन्द्र	क्षेत्र (राजू में)	पटल	विमान संख्या	विमान वर्ण	विमान आधार	भाव लेश्या
सौधर्म–ऐशान	2	1½	31	60 लाख (32+28)	काला, नीला, लाल,पीला, शुक्ल	जल	मध्यम पीत
सानत्कुमार–माहेन्द्र	2	1½	7	20 लाख (12+8)	काले बिना शेष 4	वायु	उत्कृष्ट पीत जघन्य पद्म
ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर	1	½	4	4 लाख	लाल, पीला, शुक्ल	जल एवं वायु	मध्यम पद्म
लांतव–कापिष्ठ	1	½	2	50000			मध्यम पद्म
शुक्र–महाशुक्र	1	½	1	40000	नीला एवं शुक्ल		उत्कृष्ट पद्म जघन्य शुक्ल
शतार–सहस्रार	1	½	1	6000			उत्कृष्ट पद्म जघन्य शुक्ल
आनत–प्राणत	2	½	6	700	शुक्ल	आकाश	मध्यम शुक्ल
आरण–अच्युत	2	½					मध्यम शुक्ल
कल्पोपपन्न संबंधी जोड़	**12**	**6**	**52**	**84,96,700**			
कल्पातीत 9 ग्रैवेयक (3 अधो+ 3 मध्य+ 3 ऊर्ध्व ग्रैवेयक	–	1	9	309 (111 + 107+91)	शुक्ल		मध्यम शुक्ल
9 अनुदिश	–		1	9	शुक्ल		परम शुक्ल
5 अनुत्तर	–		1	5	शुक्ल		परम शुक्ल
कुल (कल्पोपपन्न + कल्पातीत)		**7**	**63**	**84,97,023**			

'विमान' से बना और विमान का अर्थ है–वि–विशिष्ट। मान–सम्मान। अर्थात् जो विशिष्ट सम्मान पूर्वक बसते हैं या रहते हैं। विशिष्ट मान–सम्मान के धनी होते हैं अतः उन्हें विमानवासी कहा जाता है। उन्हें ही वैमानिक देव कहा जाता है।

भेद–विभाजन –

चलते तो सभी है–'गच्छति इति गौ' लेकिन गैया को ही गाय कहा जाता है। घोड़े को, गधे या हाथी को गाय नहीं कहा जाता है। 'गौ' शब्द का तात्पर्य चलने से हैं। चलते तो सभी हैं–गधा भी चलता है, घोड़ा भी चलता है और हाथी भी चलता है। लेकिन गाय को ही 'गौ' क्यों कहा जताा है? क्योंकि वह जैसी चलती है वैसी चाल किसी अन्य पशु की नहीं होती है। इसलिए उसी का नाम गौ है। इसी तरह मनुष्य तो सभी होते हैं लेकिन उनमें कुछ आर्य मनुष्य कहलाते हैं जो विशेष गुणों के धनी होते हैं। उन्हीं को अलग से मान–सम्मान दिया जाता है। जिस तरह मनुष्यों में विभाजन होता है उसी तरह देवों में भी विभाजन होता है। यह भेद, विभाजन संसार में कहीं भी छूटता नहीं है। यह एक जैसा कहीं पर रह भी नहीं सकता है। जहाँ पर सभी कुछ एक जैसा हो जाएगा वहाँ पर पुण्य और पाप में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा। भारत में भी सबसे ज्यादा जातियों में व कुलों में भेद या भिन्नता मिलती है। उसका भी एक प्रमुख कारण यह है क्योंकि यहाँ पर ही पाप–पुण्य को प्राप्त करने वाले जीव सर्वाधिक उत्पन्न होते हैं। अन्यत्र सभी एक जैसे उत्पन्न होने वाले जीव कहलाते हैं। वहाँ पर कोई बड़ा या छोटा नहीं है। अगर वहाँ कोई बड़ा है तो राष्ट्रपति है या वहाँ का मंत्री है। बाकी अन्य एक समान है। चाहे वह गाड़ी का ड्राइवर हो, साइकिल चलाने वाला हो या कार का मालिक हो। किसी की जाति में कोई विभाजन नहीं है।

जबकि यहाँ हर किसी को अलग–अलग दृष्टि से देखा जाता है। कौन–सी संस्कृति अच्छी है? आपका उत्तर होगा जहाँ कोई भेद–विभाजन नहीं है वहाँ की संस्कृति ही अच्छी है। क्योंकि उन्होंने कहा–मानव सभी समान है। अब क्या होगा?आप सभी के साथ खाएंगे, पियेंगे, उठेंगे, बैठेंगे। आपके आचरण की कोई भी विशिष्टता नहीं रहेगी। आपके पुण्य के कारण आपको जो उच्च–कुल, उच्च–जाति मिली थी उसकी कोई विशिष्टता नहीं रहेगी। जहाँ पर इस तरह कोई भिन्नता नहीं होती तो वहाँ पर पाप और पुण्य का भी कोई विभाजन नहीं होता है। इसलिए यह भेद–विभाजन भी अपने आप में गलत नहीं है। इनके भी बहुत महत्त्व हैं। ये महत्त्व जितने–जितने मिटते जा रहे हैं उतना ही व्यक्ति आचरण से हीन होता चला जा रहा है। हम इन्हीं महत्त्वों को घटाने में लगे हुए हैं। आज की जो शिक्षा पद्धति है उसमें यही सिखाया जाता है कि हमें भेद विभाजन नहीं करना चाहिए। अगर भेद विभाजन नहीं होगा तो जहाँ पर गंदगी–साफ करने वाला व्यक्ति भोजन कर रहा है वहीं आप भी उसके साथ भोजन कर रहे हो। तो आपके आचरण, आपके खून और उसके आचरण और खून में कोई भी अन्तर नहीं बचेगा। पाप और पुण्य में कोई अन्तर ही नहीं रहेगा। किसी का भी आचरण उच्च या नीच नहीं कहलाएगा। ऐसा करने से सभी नीच हो जाएंगे, कोई भी उच्च नहीं रहेगा। क्योंकि उसके साथ मिलकर आप नीच बन जाएंगे लेकिन वह आपके साथ मिलकर उच्च

नहीं हो पाएगा। उदाहरण के लिए गंदे पानी के साथ अगर अच्छा पानी मिला दिया जाए तो वह भी गंदा ही हो जाएगा। अच्छा पानी गंदगी को हटाए तो उसके लिए बहुत अधिक बल की आवश्यकता है। इसी तरह से ऊँच और नीच का जो विभाजन होता है, वह गलत नहीं होता है। यह पुण्य और पाप के द्वारा की गयी एक आचार संहिता है। यह आचरण जब तक व्यक्ति के अंदर होता है तभी तक अंदर उच्चता का भाव होता है और उच्चता के विचार आते हैं। आज की पीढ़ी को ये बातें बताई जाए तो कहेंगे कि महाराज जी तो भेद–विभाजन की बातें करते हैं। ये बातें भेद–विभाजन की नहीं है ये तो आचरण के विभाजन और विचार की बातें हैं। इसलिए अपने उच्च–आचरण को बनाकर रखो क्योंकि निम्न व्यक्ति के साथ रहकर आपको ही हानि होगी, उसे तो इससे कोई लाभ नहीं होगा। उच्च–कुलों का जो आचरण होता है वह उच्च–आचरण होता है और उस उच्च आचरण में जो सीमाएं पहले चलती थी, जो विभाजन पहले चलते थे वे विचार आपके दिमाग में आज भी होने चाहिए। तभी आप अपने उच्च विचार और उच्च आचार के साथ जीवन–यापन कर पाएंगें। इसलिए अपने आचरण को उच्च बनाकर रखें।

विमानों की संरचना –

सूत्र में वैमानिक देव किसे कहते हैं? इसकी चर्चा चल रही थी। जो विमानों में रहते हैं उन्हें वैमानिक कहते हैं। ये तीन प्रकार के विमान होते है। पहले इन्द्रक, दूसरे श्रेणीबद्ध और तीसरे प्रकीर्णक विमान हैं जो पुष्पक विमान की तरह हैं। जैसे आप माण्डला बनाते हैं। जो बीच में गोला बना होता है वह इन्द्रक हो गया जहाँ पर मुख्य–कलश रखा जाता है। उसकी दिशाओं में (पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण) या विदिशाओं में जो आप रेखा खींच देते हैं। उन्हें श्रेणीबद्ध कहते हैं। उन सबके बीच में जो कुछ पुष्प की तरह बिखरे हुए होते हैं वे प्रकीर्णक विमान कहलाते हैं। इस तरह ये तीन प्रकार के विमान होते हैं। इस तरह ये तीन प्रकार की संरचनाएं स्वर्गों में बनी होती है।

आगे के सूत्र में वैमानिक देवों के भेद बताते हुए आचार्य कहते हैं–

कल्पोपपन्नाः कल्पातीताश्च।।17।।

अर्थ– इस सूत्र में आचार्य वैमानिक देवों के भेद बताते हुए कहते हैं–वैमानिक देव दो प्रकार के होते हैं। 1. कल्पोपपन्न 2. कल्पातीत।

जो कल्पों में उत्पन्न होते हैं उन्हें कल्पोपन्न वैमानिक देव कहते हैं। जहाँ पर कल्पों की व्यवस्था नहीं है, कल्पातीत–कल्प + अतीत अर्थात् कल्पों से रहित। कल्पों से रहित स्थानों पर जो देव उत्पन्न होते हैं ऐसे देव कल्पातीत देव कहलाते हैं। कल्प का अर्थ है–जहाँ पर दस प्रकार के देवों की व्यवस्था होती है उसे कल्प कहते हैं। इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश, पारिषद, आत्मरक्ष इत्यादि। ऐसे दस प्रकार के देवों की व्यवस्था सोलहवें स्वर्ग तक है। सोलह स्वर्ग के ऊपर इन्द्र, सामानिक आदि देव नहीं होते हैं। उन स्वर्गों को कल्पातीत कहा जाता है। उन देवों में कोई छोटा

वैमानिक देव

नाम	शरीर की ऊँचाई (उत्कृष्ट हाथ में)	आयु		देवांगना (उत्कृष्ट आयु पल्य में)	आहारेच्छा अंतराल (उत्कृष्ट वर्ष में)	श्वासोच्छवास अंतराल (उत्कृष्ट पक्ष में)
		जघन्य	उत्कृष्ट (सागर में)			
सौधर्म–ऐशान	7	कुछ अधिक एक पल्य	2	5 व 7	2,000	2
सानत्कुमार–माहेन्द्र	6	पीछे–पीछे स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु में एक समय अधिक करने पर आगे–आगे के स्वर्ग की जघन्य आयु होती है।	7	9 व 11	7,000	7
ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर	5		10	13 व 15	10,000	10
लांतव–कापिष्ठ	5		14	17 व 19	14,000	14
शुक्र–महाशुक्र	4		16	21 व 23	16,000	16
शतार–सहस्रार	4		18	25 व 27	18,000	18
आनत–प्राणत	3.5		20	34 व41	20,000	20
आरण–अच्युत	3		22	48 व 55	22,000	22
कल्पातीत						
9 ग्रैवेयक (3 अधो 3 मध्य 3 ऊर्ध्व)	2½ 2 1½		23-31	देवांगना नहीं होती हैं।	23,000 - 31,000	23-31
9 अनुदिश	1		32		32,000	32
5 अनुत्तर	1		33		33,000	33

सभी लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर की होती है।
सर्वार्थसिद्धि के देवों की जघन्य व उत्कृष्ट आयु तैतीस सागर की ही होती है।

1. **घातायुष्क सम्यग्दृष्टि देवों की अपेक्षा पहले से बारहवें स्वर्ग में उत्कृष्ट आयु अपनी–अपनी उपर्युक्त वर्णित आयु से अंतमुहूर्त कम आधा सागर अधिक होती है।**
2. **घातायुक्त मिथ्यादृष्टि देवों की अपेक्षा पल्य के असंख्यातवें भाग से अधिक होती है।**

या बड़ा नहीं होता है। सभी अहमिन्द्र कहलाते हैं। उन देवों में कोई किसी का अनुचर नहीं होता है। कोई किसी को आज्ञा नहीं देता है। जो कल्पातीत देव होते हैं वे कहीं पर भी नहीं जाते हैं। अपने ही विमानों में रहते हैं। उन्हें किसी भी प्रकार से अपने वैभव को दिखाने के लिए कोई भी बाहरी योजनाएं

नहीं करनी पड़ती हैं। क्योंकि जब घर से बाहर निकलना होता है तो कई योजनाएं करनी पड़ती है। जैसे–ड्राइवर की, साथ में चलने वालों की, सहयोगियों की, आगे–पीछे चलने वालों की भी आवश्यकता पड़ेगी। जब घर में रहेंगे तो इनकी कोई आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसलिए ये कल्पापतीत अहमिन्द्र होते हैं। ये देव अपने ही विमानों में घूमते हैं और अपने–अपने आनन्द में मग्न रहते हैं। पिछले सूत्र में आपको बताया गया था कि इनमें देवियां भी नहीं होती हैं। आचार्य का कथन है कि जो कल्पों में उत्पन्न हुए उन्हें कल्पोपन्न जानना और जो कल्पों से अतीत हैं उन्हें कल्पातीत जानना चाहिए। इस तरह दो प्रकार के वैमानिक देव होते हैं।

देवों के कल्पों की व्यवस्था कैसी होती है?इसका वर्णन आगे के सूत्र में आचार्य कहते हैं–

उपर्युपरि।।18।।

अर्थ– इन देवों के विमान क्रम से ऊपर–ऊपर हैं।

इस सूत्र में आचार्य कहते हैं कि ये सब विमान ऊपर–ऊपर स्थित होते हैं। नारकी सभी अधोलोक में नीचे–नीचे स्थित होते हैं। (वैमानिक देवों के) ये विमान एक दूसरे के ऊपर–ऊपर हैं।

विमानों के नाम बताते हुए आचार्य कहते हैं–

सौधर्मैशान–सानत्कुमार–माहेन्द्र–ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर–लान्तवकापिष्ठ–शुक्र–महाशुक्र–शतार– सहस्रारेष्वानतप्राणतयोरारणाच्युतयोर्नवसु–ग्रैवेयिकेषु विजय–वैजयन्त–जयन्तापराजितेषु सर्वार्थसिद्धौ–च।।19।।

अर्थ– सौधर्म, ऐशान, सानत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत–इन सोलह स्वर्गों में, इनके ऊपर नौ ग्रैवेयिकों में, नौ अनुदिशों में और विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि इन पाँच अनुत्तर विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

आचार्य स्वर्ग की व्यवस्था बताते हुए इस सूत्र में लिखते हैं–सौधर्म और ऐशान ये युगल कल्प कहलाते हैं। इन्हीं के ऊपर आगे–आगे के युगल कल्प होते हैं। सौधर्म–ऐशान के ऊपर सानत्कुमार और माहेन्द्र, फिर उसके ऊपर ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर, फिर उसके ऊपर लान्तव–कापिष्ठ, फिर उसके ऊपर शुक्र–महाशुक्र, फिर उसके ऊपर शतार–सहस्रार, उसके ऊपर आनत–प्राणत, और उसके ऊपर आरण–अच्युत यहाँ तक सोलह स्वर्ग हो जाते हैं। इसके ऊपर नौ ग्रैवेयिक होते हैं। उसके ऊपर नौ अनुदिश होते हैं। उसके ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और बीचों बीच में सर्वार्थसिद्धि विमान होता है। सबसे ऊपर जो पाँच अनुत्तर विमान बताए हैं उनमें से चार तो चारों दिशाओं में होते हैं और मध्य में सर्वार्थसिद्धि विमान होता है। इनका जो अवस्थान है वह जो त्रस नाड़ी बनाई जाती है उसमें देखा होगा या देख सकते हैं। इनका यह नाम क्यों पड़ा?वहाँ किस दिशा

के कौन से इन्द्र होते हैं?

अनादिकालीन व्यवस्था – इस विषय में आचार्य कहते हैं–ये सब नाम उनके स्वभाव से हैं। स्वभाव से तात्पर्य है कि ये किसी के द्वारा बनाये हुए नहीं है और किसी के द्वारा निर्धारित भी नहीं किए गए हैं। ये सभी नाम अनादिकाल से चले आ रहे हैं। जितनी भी व्यवस्थाएँ हैं वे सभी अनादिकाल से चल रही हैं। इन व्यवस्थाओं में न कभी किसी ने नाम रखा है और न ही किसी ने इन व्यवस्थाओं को नए ढंग से प्रारम्भ किया है। जो कुछ भी चल रहा है वह सब अनादि से चलता आ रहा है। यदि देखा जाए तो प्रायः लोग कहते हैं कि ये सब रूढ़ि से चलता आ रहा है। आज रूढ़ि शब्द का लोगों ने गलत अर्थ किया है। जिसे रूढ़िवादिता कहते हैं। अगर देखा जाए तो तीनों लोकों की व्यवस्था अनादि काल से चलती आ रही हैं। इसी को ही रूढ़ि–व्यवस्था कहते हैं। रूढ़ि का अर्थ जो स्वतः ही चला आ रहा है। जिसे किसी ने बताया नहीं है उसे रूढि–व्यवस्था कहा जाता है। इसी को ही अनादि–कालीन व्यवस्था भी कहते हैं। ये सभी व्यवस्थाएं अनन्त काल तक ऐसी ही चलती रहती हैं। ये तीन लोकों की व्यवस्थाएं अनादि काल से ही चलती चली आ रही हैं। नरकों की व्यवस्थाएं है, स्वर्गों की व्यवस्थाएं है, मनुष्य लोक में मनुष्य कहाँ तक रह सकते हैं और कहाँ नहीं रह सकते हैं?बीच में अनेक द्वीप और समुद्र पड़ते हैं। उसमें भी सुमेरू पर्वत आदि जो इनके नाम हैं, ये सभी रूढ़ि से चले आए हुए नाम हैं।

शाश्वत व्यवस्था – सुमेरू पर्वत का नाम सुमेरू किसने रखा? इस द्वीप का नाम जम्बूद्वीप किसने रखा? मानुषोत्तर पर्वत का नाम किसने रखा? अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र का नाम किसने रखा?इस तरह के अनेक प्रश्न मन में उठते हैं। ये सभी नाम किसी के द्वारा नहीं रखे गए हैं। अगर आपको ये नाम सुनने में आ रहे हैं तो ये नाम तीर्थंकरों ने बताए हैं। उन्होंने भी इनका नामकरण नहीं किया है। उन्होंने भी जैसे चले आ रहे हैं वैसे ही नाम हमें बताए हैं। आदिनाथ भगवान से लेकर महावीर भगवान तक कोई भी तीर्थंकर हों, किसी ने कोई भी नई व्यवस्था नहीं की है। जो है उसी को आपके ज्ञान में लाया जाता है। इसी का नाम सम्यग्ज्ञान है। जो जैसा है उसको वैसा नहीं जान रहे हैं तो हमारा ज्ञान मिथ्याज्ञान है। अगर आपके मन में विचार आता है कि ये असंख्यात द्वीप, समुद्र, सुमेरू पर्वत, स्वर्ग आदि कुछ होतें ही नहीं हैं। आपके मन में ऐसा विचार आ गया तो आपका ज्ञान मिथ्या हो जाता है। यह किसी ने किया नहीं, स्वयमेव यह ज्ञान मिथ्याज्ञान हो गया। सम्यग्ज्ञान तो हमने अनादि से ग्रहण किया ही नहीं है। इसलिए हमारा ज्ञान अनादि से मिथ्या ही बना हुआ है। उसी मिथ्याज्ञान का फल यह होता है कि जब कभी हम इस तरह की बातों को, तत्त्व–चर्चाओं को सुनते हैं, बुद्धि में सबसे पहले मना ही आता है। ये सारी व्वयस्थाएं अनादिनिधन है, शाश्वत हैं, स्वाभाविक है अगर ऐसा हमने ग्रहण कर लिया तो हमारा ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। ऐसा आपको तभी ध्यान में आएगा जब आप शास्त्रों का स्वाध्याय करेंगे।

स्वर्ग और इन्द्रों के नाम – इन सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार देवों की सभाओं के विषय में भी आचार्य बता रहे हैं कि ये सभी स्वभाव से बने हुए हैं और इनमें सहचर के कारण ही उस इन्द्र का

नाम वैसा पड़ जाता है। जैसे–सुधर्मा नाम की सभा होती है। वह सभा जहाँ होती है उसी कल्प को सौधर्म कल्प कहते हैं। उस कल्प के सहचर से उस कल्प का इन्द्र 'सौधर्म–इन्द्र' कहलाता है। ऐसी व्यवस्था हर जगह होती है। ऐसा भी कह सकते हैं वहाँ सौधर्म, ईशान आदि इन्द्र स्वभाव से ही होते हैं। क्योंकि वहाँ ईशान–सभा में जो भी इन्द्र बैठेगा उसका नाम ईशान ही कहलाएगा। मनुष्यलोक की व्यवस्था और वहाँ की व्यवस्था में कितना अन्तर है। यहाँ मनुष्य का जन्म होता है तो अपनी इच्छानुसार उसका नाम रख दिया जाता है। जबकि देवों में जहाँ वह जन्म लेगा वहीं के नाम के अनुसार उसका नाम रखा जाएगा। अन्य कोई उसका दूसरा नाम नहीं रखा जाएगा। सौधर्म कल्प में उत्पन्न होने वाला सौधर्म इन्द्र, ऐशान स्वर्ग में उत्पन्न होने वाला ईशान–इन्द्र ही कहलाएगा। इसी तरह सानत्कुमार कल्प होता है। इस सानत्कुमार कल्प के सहचर से उस इन्द्र का नाम सनत्कुमार कहलाएगा। इसी तरह महेन्द्र नाम का इन्द्र भी स्वभाव से है उसके कल्प का नाम माहेन्द्र होता है। उसी के साहचर से उसका नाम महेन्द्र पड़ जाता है। इस तरह से यह आगम की व्यवस्था होती है। इसी तरह दो–दो में ये व्यवस्था करते चले जाना। जैसे– सौधर्म–ऐशान, सानत्कुमार–माहेन्द्र।

सौधर्म और ऐशान कल्प के ऊपर सानत्कुमार–माहेन्द्र, उसके ऊपर ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर, उसके ऊपर लान्तव–कापिष्ठ, उसके ऊपर शुक्र–महाशुक्र, उसके ऊपर शतार–सहस्रार, उसके ऊपर आनत–प्राणत, उसके ऊपर आरण–अच्युत होते हैं।

बारह इन्द्र – आचार्य कहते हैं–स्वर्ग सोलह होते हैं लेकिन इन्द्र बारह होते हैं। उसकी व्यवस्था किस प्रकार से है? उसी को यहाँ पर बताया जा रहा है। जो नीचे के चार स्वर्ग हैं, सौधर्म–ऐशान–सानत्कुमार–माहेन्द्र, इनमें प्रत्येक कल्प में एक–एक इन्द्र होता है। इस तरह ये चार इन्द्र हो जाते हैं। उसके बाद ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर इसका एक इन्द्र होता है उसे ब्रह्म इन्द्र कहते हैं। इसी तरह लान्तव–कापिष्ठ इनमें भी एक ही इन्द्र होता है। उसका नाम लान्तव इन्द्र होता है। इसी तरह शुक्र–महाशुक्र कल्प में भी शुक्र नाम का एक ही इन्द्र होता है। शतार–सहस्रार कल्प का भी एक ही इन्द्र होता है जिसे शतार इन्द्र कहेंगे। इस तरह इन आठ कल्पों में चार इन्द्रों की ही व्यवस्था हैं। आगे आनत–प्राणत–आरण–अच्युत इनमें प्रत्येक में एक–एक इन्द्र होता है। इस तरह नीचे के चार इन्द्र, बीच के चार इन्द्र और ऊपर के चार इन्द्र होते हैं सभी मिलाकर बारह इन्द्र हो जाते हैं। इस तरह सोलह स्वर्गों में बारह इन्द्रों की व्यवस्था है।

ये स्वर्ग कहाँ से शुरू होते हैं इसके विषय में आचार्य बताते हैं–जम्बूद्वीप के मध्य में महामन्दर (महामेरू) है। उस सुमेरू पर्वत की जमीन से नीचे नींव की अवगाहना एक हजार योजन की होती है और उसकी ऊँचाई निन्यानवे हजार योजन होती है। यह एक हजार योजन जमीन के अन्दर है जो कि सुमेरू पर्वत की जड़ है और पृथ्वी के समभाग से निन्यानवे हजार योजन की ऊँचाई को लिये हुए है। इस तरह सुमेरू पर्वत एक लाख योजन का होता है। इसके ऊपर चालीस (40) योजन की एक चूलिका होती है। जैसे मंदिर के शिखर पर कलश चढ़ाते है उसी तरह से इसकी चालीस योजन की चूलिका होती है। अधोलोक के विभाजन के बारे में आचार्य बताते हैं–इस मेरू की जड़ जहाँ पर

समाप्त होती है वहाँ से ही अधोलोक शुरू हो जाता है। एक हजार योजन नीचे जाने के बाद अधोलोक शुरू होता है। उस अधोलोक में ही इन भवनवासी देवों के स्थान बने हुए है।

शंका– यहाँ योजन का अर्थ–लघुयोजन है अथवा महायोजन मानना चाहिए?

समाधान– दो प्रकार के योजन होते हैं–एक लघुयोजन और दूसरा महायोजन होता है। एक लघु योजन में चार कोस होते हैं। एक कोस लगभग 3 कि.मी. का हो जाता है। महायोजन 2000 कोस का होता है। एक हजार योजन (2000000 कोस) जमीन के नीचे जाने पर उसके बाद अधोलोक शुरू होगा। क्या विज्ञान इतने नीचे जा सकता है?विज्ञान में अनुमान से पचास या सौ कि.मी. तक का ज्ञान यदि होगा तो होगा। 20 लाख कोस नीचे जाने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

मध्यलोक – इस प्रकार पृथ्वी के एक हजार योजन नीचे और इसके समभाग से निन्यानवे हजार योजन तक का भाग मध्यलोक ही कहलाएगा। ये कथन अपने आप में इतना गहन और विस्तृत हैं कि साइंस की यहाँ तक कोई पहुँच ही सम्भव नहीं है। इस मेरूपर्वत की चूलिका के ऊपर से ऊर्ध्वलोक का प्रारम्भ होता है। अधोलोक और ऊर्ध्वलोक का विभाजन सुमेरू पर्वत के माध्यम से ही हो रहा है। सुमेरू पर्वत की जड़ जहाँ समाप्त होती है वहाँ से अधोलोक प्रारम्भ हो जाता है। सुमेरू पर्वत की चूलिका जहाँ पर समाप्त होगी, उसी चूलिका के ऊपर एक बाल मात्र के बराबर अन्तर से सौधर्म स्वर्ग का सबसे पहला विमान, जो ऋजु विमान होता है, वहीं से स्वर्ग का प्रारम्भ हो जाता है। वही ऊर्ध्वलोक कहलाने लग जाता है। इस तरह एक लाख चालीस योजन वाला यह मध्यलोक है।

विस्तृत वर्णन – आपको इनके विषय में और गहराई से जानना है तो 'तिलोयपण्णति', 'त्रिलोकसार',तथा करणानुयोग आदि के शास्त्रों से जान सकते हैं। उनमें लिखा हुआ है कि सौधर्म स्वर्ग में कितने विमान होते है?कितने श्रेणीबद्ध होते हैं?कितने पंक्तिबद्ध होते हैं?कितने प्रकीर्णक होते हैं?उनकी लम्बाई चौड़ाई कितनी होती है?इन सभी का विस्तृत विवेचन इन शास्त्रों में लिखा हुआ है। यह सारी व्यवस्थाएं इतनी सुस्थापित हैं इनमें कभी भी बाल मात्र अन्तर न कभी पड़ा है और न कभी पड़ेगा। जैसी व्यवस्था भगवान आदिनाथ ने बताई थी वैसी ही महावीर भगवान ने बताई है। कोई भी तीर्थंकर कुछ भी नया नहीं बताते हैं, जो जैसा है उसको वैसा ही बता देते हैं। फिर भी, हमारे मस्तिष्क में इतना ज्ञान नहीं आ पाता है। आप और हम इतनी पढ़ाई लिखाई, साइंस और बिजनेस में पड़ गए हैं कि हमें यह भी ज्ञात नहीं है कि जैनदर्शन में क्या–क्या व्यवस्थाएं बताई गई हैं? ये जो कुछ बताया जा रहा है वह कोई कल्पना नहीं है। क्योंकि कल्पनाएँ तो कभी न कभी, किसी न किसी बात से खण्डित हो जाती हैं। इनका इतना बड़ा विज्ञान है कि सिद्धान्त ग्रन्थों की जितनी भी पुस्तकें हैं उन सबमें जो वर्णन आता है वह इसी व्यवस्था के अनुसार चलता है। धवला, जयधवला, महाबन्ध आदि अनेक ऐसे ग्रंथ हैं जिनमें इन सभी का बहुत ही सूक्ष्म रूप से वर्णन किया गया है। इनके आगे कम्प्यूटर फेल हो जाता है। लेकिन कभी भी आचार्यों का ज्ञान फेल नहीं होता है। जब इनके विषय में सोचना प्रारम्भ करेंगे तब आपको विश्वास होगा कि वास्तव में जैनकुल में जन्म लेने का मतलब

इतना ही नहीं है कि रात्रि में भोजन नहीं करना, पानी छानकर पीना, प्रतिदिन मंदिर जाना, मुनि महाराज को आहार दान देना आदि। इन सबको करने का नाम ही जैनधर्म नहीं है। जितना व्यवस्थित तत्त्वों और लोक का वर्णन जैनधर्म में मिलता है उतना किसी अन्य सम्प्रदायों या धर्मों में नहीं मिलता है। चाहे आप बाइबिल उठाकर देख लेना, कुरान उठाकर देख लेना। सभी में ऊपरी–ऊपरी बातें हैं। आप विचार कीजिये जैनधर्म में प्रत्येक विषय का कितना बारीकी से वर्णन मिलता है।

समीचीन ज्ञान – यदि आप कथाओं पर ध्यान देते हैं तो प्रथमानुयोग के ग्रंथों को पढ़कर देखिये। उसमें तीर्थंकरों व चक्रवर्तियों के वर्णन कितने व्यवस्थित और सही ढंग से लिखे हुए हैं?जहाँ पर कल्पनाओं की कोई बात नहीं है। आज हम कल्पनाओं को सही मान रहे है और सत्य को कल्पना मान रहे है। यह हमारी बुद्धि का उल्टापन है। आज हम जैन तो है लेकिन जैन होते हुए भी जिनवाणी पर श्रद्धान नहीं का रहे हैं। जब तक जिनवाणी पर विश्वास नहीं होता तब तक हम भीतर से जैन नहीं बन सकते। हम शरीर मात्र से जैन है, बाहरी क्रियाओं से जैन हैं। जब हमारा श्रद्धान जिनवाणी पर होगा तभी हम आत्मा से जैन होंगे। आत्मा से जैन का तात्पर्य है–अन्दर मिथ्यात्व का उदय नहीं चल रहा हो, सम्यक्त्व प्रकृति का जिसके अंदर उदय चल रहा हो, जो सम्यग्दर्शन के भाव के साथ जी रहा हो, वही सम्यग्दृष्टि भीतर से जैन कहलाता है। यह सभी ज्ञान हमें जिनवाणी पढ़ने से, उसके प्रति अपनी रूचि बढ़ाने से आता है।

सभी के पास व्यर्थ की चर्चा करने का समय रहता है लेकिन जिनवाणी को पढ़ने का समय नहीं होता है। यह हमारा बहुत बड़ा प्रमाद है और इसी प्रमाद में हमारा सारा समय व्यतीत हो जाता है। इस प्रमाद को आप थोड़ा कम करोगे तो बहुत आनन्द आएगा।

स्वर्गों की चर्चा करते हुए आचार्य आगे बताते हैं कि इसके ऊपर नौ ग्रैवेयक होते हैं, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर संज्ञा वाले विमान होते हैं। इनकी व्यवस्था कैसी है ?उसका वर्णन आगे के सूत्रों में बताया जाएगा।

आगे के सूत्र में इन वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर अधिकता किन रूपों में होती हैं, उनका वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं–

स्थिति–प्रभाव–सुख–द्युति–लेश्या–विशुद्धीन्द्रियावधिविषयतोऽधिकाः ।।20।।

अर्थ–वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर स्थिति अर्थात् आयु, प्रभाव, सुख, द्युति अर्थात् कान्ति, लेश्याओं की विशुद्धि, इन्द्रियों का विषय तथा अवधिज्ञान के विषय की अधिकता पाई जाती है।

आचार्य कहते हैं–इन सभी रूपों में ऊपर–ऊपर के देव बढ़े हुए होते हैं। सबसे पहले स्थिति को लिखा है।

स्थिति – स्थिति का अर्थ–जो अपनी आयु कर्म के उदय से शरीर की प्राप्ति हो रही है उस शरीर में

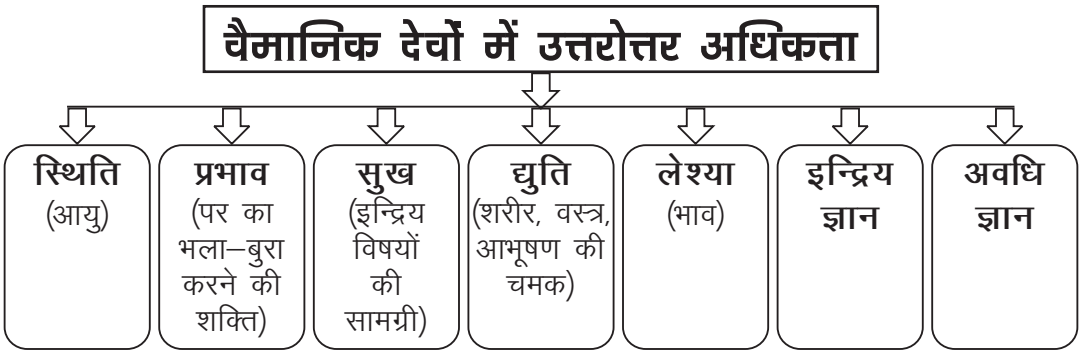

रहने का नाम स्थिति है। स्थिति का अर्थ है–अपना आयु–काल अर्थात् कब तक हमें इस शरीर में रहना है? ऊपर–ऊपर के देवों की आयु अधिक–अधिक होती है। इन देवों में प्रभाव भी अधिक–अधिक होता है–अर्थात् ऊपर–ऊपर के देव शाप देने की और अनुग्रह की शक्ति अधिक–अधिक रखते हैं। जितनी सौधर्म–ऐशान स्वर्गों के देवों में शक्ति होगी उससे अधिक सानत्कुमार–माहेन्द्र स्वर्ग के देवों में होगी उससे भी अधिक ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर में होगी। ऐसे ही ऊपर–ऊपर के देवों में उपकार करने की और अपकार करने की शक्ति भी अधिकाधिक होती है।

सुख – इनमें सुख भी अधिक–अधिक बढ़ता चला जाता है। सुख से तात्पर्य–इन्द्रियों के जो विषय हैं उनके माध्यम से जो अनुभव होता है उसी का नाम सुख है। इन्द्रियों के विषयों का अनुभव करना यह सुख कहलाता है। यह सुख भी ऊपर–ऊपर के देवों में बढ़ता चला जाता है।

द्युति – ऊपर के देवों में द्युति या कान्ति भी बढ़ती चली जाती है। ऊपर–ऊपर के देवों के शरीर की, उनके वस्त्रों की, उनके आभरणों (आभूषणों) की कान्ति बढ़ती चली जाती है। यहाँ तक कि उन देवों के विमानों में जितनी भी वस्तुएं होंगी वे सभी नीचे के देवों से विशेष गुण वाली होंगी। इस तरह यह द्युति भी ऊपर–ऊपर के देवों में बढ़ती चली जाती है।

लेश्या – ऊपर–ऊपर के देवों की लेश्याएँ भी शुभ होती चली जाती है। लेश्याओं की विशुद्धि को ही लेश्याविशुद्धि कहते हैं। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय–ज्ञान का विषय भी ऊपर–ऊपर के देवों में बढ़ता चला जाता है। अपनी इन्द्रिय के माध्यम से हम कितनी दूर का सुन सकते हैं या कितनी दूर का जान सकते हैं?यह भी ऊपर–ऊपर के देवों में अधिक होता है।

अवधिज्ञान – ऊपर–ऊपर के देवों में अवधिज्ञान भी बढ़ता चला जाता है। उस अवधिज्ञान के द्वारा कितना नीचे–नीचे का जान सकते हैं, कितना ज्यादा इस लोक को जान सकते हैं। उस अवधिज्ञान का विषय भी ऊपर–ऊपर के देवों में अधिक–अधिक होता है। प्रत्येक कल्प में इन सभी की स्थिति अधिक–अधिक होती है।

हीनता – आगे के सूत्र में आचार्य वैमानिक देवों में क्या–क्या घटता चला जाता है उसी के विषय में हमें बता रहे हैं। व्यक्ति के मन प्रश्न में आ सकता है जब सब कुछ इन देवों में बढ़ता चला जाता है तो घटता क्या है? क्योंकि जब तक कुछ घटेगा नहीं, तब तक जीवन में वास्तविक सुख और शान्ति नहीं आ सकती है। इन चीजों के घटने से ही देवों को भी शान्ति मिलेगी और मनुष्यों को भी शान्ति मिलेगी। क्योंकि शान्ति का तो Formula एक ही होता है और वह प्रत्येक स्थान पर प्रभावी होता है। ऊपर–ऊपर के देवों में सुख अधिक है यह तो पहले स्पष्ट हो गया लेकिन वह क्या है?जिसके कारण ऊपर–ऊपर के देव सुखी होते हैं। ऐसी कौन सी चीजे हैं जिनके घटने के बाद भी ऊपर–ऊपर के देवों को सुखी बनाती है। कुछ चीजों के घटने के बाद भी हमें सुख मिलता है। यह बात जब तक हमारे मस्तिष्क में नहीं आएगी, तब तक हम सुखी नहीं रह सकते हैं।

आगे के सूत्र में इन देवों में क्या–क्या घटता चला जाता है उसका वर्णन करते हुए वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर हीनता के विषय में आचार्य लिखते हैं–

गति–शरीर–परिग्रहाभिमानतो हीनाः ।।21।।

अर्थ– वैमानिक देवों में उत्तरोत्तर गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान हीन–कम होता जाता है।

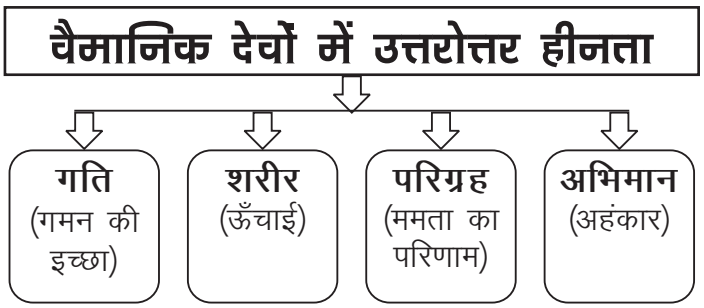

गति, शरीर, परिग्रह और अभिमान ये चारों इन देवों में कम होते चले जाते हैं। मनुष्यों के लिए कुछ चीजें ऐसी होती हैं जिन्हें वह घटा और बढ़ा सकता है। लेकिन देवों में देखा जाए तो उन्हें बहुत कुछ उसी रूप में मिला है, उन्हें कुछ कम करने की आवश्यकता नहीं होती है। समझने योग्य बात यह है कि जब वहाँ इन चीजों की कमी करके देव लोग सुखी हैं तो हम भी इन चीजों में कमी करके सुखी हो सकते हैं।

गति – सबसे पहले इन देवों की गति में कमी होती है। गति से तात्पर्य है–एक देश से दूसरे देश में जाना या एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने को गति कहते हैं। अधिक घूमने की आदत होना यह भी भीतर से आकुलता का परिणाम होता है। सुखी व्यक्ति में स्थिरता अधिक होती है।

शंका– फिर तो सुख केवल पीछी मिलने से ही मिलेगा?

समाधान– पीछी मिलने से ही सुख नहीं मिलता है। गृहस्थों के द्वारा पीछी लेने और मुनि महाराज के पीछी लेने में अन्तर होता है। आप देखेंगे कि सबसे ज्यादा घूमने की आदत मुनि महाराजों की ही

होती है। लेकिन मुनि महाराजों के घूमने और आपके घूमने में अंतर होता है। क्योंकि घूमते हुए भी उनका मन नहीं घूमता है। मुनि महाराज अपने मन को रमाने के लिए नहीं घूमते हैं। जबकि आप अपने मन को रमाने के लिए घूमते हैं। आपका मन एक जगह पर नहीं लगता तो दूसरी जगह पर चले जाते हैं। जब दूसरी जगह पर नहीं लगता तो तीसरी जगह पर चले जाते हो। आज लोगों की स्थिति ऐसी बन गई है कि उन्हें अपने देश में घूमने की जगह नहीं मिलती है। भारत में जितने भी घूमने के स्थान हैं वे तो सारे घूम लिए। अब तो विदेश जाना है, ऐसे विचार उनके मन में आते हैं। वे कभी आस्ट्रेलिया जाते है, कभी जापान जाते हैं, कभी अमेरिका जाते हैं तो कभी स्विटजरलैण्ड जाते हैं। यह जो भीतर से मन नहीं लगने के कारण घूमने की आदत है, वह आकुलता का परिणाम है, उसी को दुख कहा गया है। अगर व्यक्ति को अन्तरंग से सुखी होना है तो उसे मन की गति और अपने आवागमन को रोकना पड़ेगा। क्योंकि आवागमन में दुःख ही होता है और जो जितना अधिक घूमता फिरता है उसका उतना ही अधिक बालकपन कहलाता है। नीचे के देव बहुत घूमते फिरते रहते हैं जबकि ऊपर–ऊपर के देव अपने तक ही सीमित होते चले जाते हैं। सबसे ऊपर के देव तो अपने ही आवासों में तथा अपने ही विमानों में रहते हैं। वहाँ से बाहर निकलकर ही नहीं जाते हैं। वहाँ तो ऐसा स्वभाव से हैं। उनके परिणामों के कारण उनका ऐसा स्वभाव बन जाता है। लेकिन आपको तो अपना स्वभाव ऐसा बनाना पड़ेगा। आचार्य कहते हैं कि आवागमन को कम करने से व्यक्ति सुखी रह सकता है। यदि व्रती या मुनि भी बन जाते हैं तो अधिक घूमते–फिरने की आकुलता नहीं करनी है। वे मात्र इसी कारण से एक स्थान से दूसरे स्थानों पर जाते हैं जिससे कि नए–नए लोगों को भी लाभ मिल सके और उन्हें जिनालयों के दर्शनादि मिल सकें। उनके ज्ञान में तथा सम्यक्त्व में भी वृद्धि हो सके। इस हेतु से भ्रमण करना और मन को रमाने के लिए भ्रमण करना, इन दोनों में बहुत अन्तर है।

गति–स्थानान्तरण – गति का अर्थ दो रूप में ले सकते है। पहला एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। दूसरा अपने वाहनों की गति से है। यदि कोई युवा होगा या बच्चा होगा तो उसके वाहन की गति कभी कम नहीं मिलेगी। वह अपने वाहन को जितनी अधिक स्पीड दी जा सके उतनी देने का प्रयास करता है। ये भावना अपने लड़कपन के कारण से ही होती हैं। एक प्रौढ़ावस्था होती है और एक लड़कपन होता है। लड़कपन में तो फुल स्पीड में बाइक, कार और अन्य–अन्य वाहन चलाये जाते हैं। जैसे–जैसे व्यक्ति बाहर और भीतर से बड़ा होता चला जाता है। तो वह धीरे– धीरे शांति से कार्य करता है। अगर गाड़ी भी चलायेगा तो धीरे चलाएगा क्योंकि उसके मन में रहता है कि जहाँ पहुँचना है वहाँ दो मिनट देर से पहुँच जाएंगें। दस पाँच मिनट जल्दी पहुँचने के लिए हमने अपनी टांग तोड़ ली, हड्डी तोड़ ली, गाड़ी का एक्सीडेंट करवा लें, इसमें तो बुद्धिमानी की बात नहीं है। ये जो मन में शांति के भाव आते हैं ये भी बड़ी आयु में आते हैं। मुख्य बात यह है कि जब वहाँ पर इन चीजों की कमी है तभी वे सुखी कहे गए हैं।

अधिक गति के दुष्परिणाम भी सामने निकलकर आते हैं। आपने बच्चों को देखा होगा कि चाहे कमरा छोटा हो, बड़ा हो, सीढ़ियां चाहे कैसी भी हो, वह कभी धीरे चलता ही नहीं है। ऐसा क्यों होता है?क्योंकि यह बच्चों का स्वभाव है। आप जैसे–जैसे बड़ें होंगे भीतर से आप स्वयं में परिपक्वता का अनुभव करेंगे। आपकी गति में कमी आने लग जाती है। हड़बड़ाहट से किसी काम को करना, जल्दी–जल्दी काम को करना आदि लड़कपन के लक्षण हैं। कभी–कभी ये चीजें तब सम्भलती है जब हमें चोट लग जाती है, एक्सीडेंट हो जाता है। महीने दो महीने के लिए हॉस्पीटल के बेड पर पड़ जाते हैं। उस समय हमें महसूस होता है कि अगर हम गाड़ी धीरे चला लेते तो आज ऐसा नहीं होता। फिर उसके अन्दर स्वयं ही गति कम होने लग जाती है। जब वह ठीक होने के पश्चात् पुनः गाड़ी चलाएगा तो वह धीरे ही चलाएगा। केवल गाड़ी से ही नहीं, कई बार हमारी असावधानी के कारण हड़बड़ाहट में भी ऐसा हो जाता है। तब छोटी–छोटी घटनाएं घटित हो जाती है।

घटना – एक घटना मेरे (मुनि श्री प्रणम्यसागर जी) साथ भी ऐसी घटी। यह घटना दीक्षा लेने के बाद की है। आचार्यश्री के संघ में जब तीन बजे की क्लास लगती थी, एक घंटी बजती थी। उसका मतलब यह होता था कि आचार्यश्री अपने कमरे से निकल गए हैं तो आचार्यश्री के पहुँचने से पूर्व ही उनके स्वाध्याय वाले स्थान पर पहुँचना होता था। संघ में दो या तीन साधु एक स्थान पर एक ही कमरे में रहते थे और उनके अलग–अलग पाटे भी बिछे हुए थे। जैसे ही घंटी बजी वैसे ही हड़बड़ाहट में अपनी पुस्तक ली और चल दिये, तभी असावधानी में दूसरे पाटे से पैर टकरा गया और चोट लग गई। कुछ हिम्मत करके, लंगड़ाकर, जिस स्थान पर स्वाध्याय होना था उस स्थान पर पहुँच गए। बाद में जब कमरे में वापस आए और देखा तो पैर में बहुत अधिक सूजन आ गई थी। जब डॉक्टर को बुलाया तो उसमें छोटा सा फ्रेक्चर भी निकल आया। इसे कहते हैं हड़बड़ाहट का परिणाम। तब समझ में आया कि असावधानी में भी इस तरह की दुर्घटनाएं घटित हो जाती हैं। ये चीजें एक उम्र के कारण होती हैं और जब हमें अनुभव मिल जाते हैं तो हम सावधान होने लग जाते हैं।

इस तरह की गतियाँ, हड़बड़ाहट, आवेग आदि ऊपर–ऊपर के देवों में कम होता है। यह सुख का कारण है। जितना आप शान्ति से एक जगह पर बैठोगे, जितनी शांति से गति बनाकर चलोगे, उतना ही आप सुरक्षित और सुखी रहोगे।

शरीर – इसी सूत्र में आचार्य कहते हैं–ऊपर–ऊपर के देवों के शरीर की ऊँचाई में भी कमी होती जाती है। यह बात शायद आपको उल्टी लग सकती है। इसका वर्णन भी आगे आचार्य स्वयं करेंगे कि कौन–कौन से देवों के शरीर की ऊँचाई कितनी होती है?शरीर की ऊँचाई का कम होना भी देवों में सुख का कारण होता है। मनुष्यों में भी कम ऊँचाई का होना सुख का कारण हो सकता है। क्योंकि जिनकी ऊँचाई अधिक होती है उनकी कमर में दर्द बना रहता है। लम्बे शरीर वालों को अपनी कमर को सीधा रखने में बहुत अधिक कठिनाई होती है। ऊँचाई के कारण, जो सामान्य से अधिक लम्बे होते हैं, उनको बैठने में भी परेशानी होती है।

परिग्रह – आचार्य कहते हैं–परिग्रह की कमी होने के कारण भी ऊपर–ऊपर के देव अधिक सुखी होते हैं। उन देवों में परिग्रह कम क्यों होता है?इसका उत्तर भी आचार्य देते हैं–लोभ कषाय का परिणाम कम होने से परिग्रह में हीनता आ जाती है। लोभ कषाय का उदय होगा तो हम अनेक प्रकार के विषयों की सामग्री अपने पास रखेंगे और वही हमारे लिए परिग्रह बन जाता है। परिग्रह का मूल कारण लोभ कषाय है। जिसके अंदर जितनी अधिक लोभ की प्रवृत्ति होगी वह भीतर से उतना ही अधिक दुःखी होगा। आपके पास चाहे परिग्रह दिखाई दे या न दें,यदि आपमें लोभ की प्रवृत्ति है तो आप अवश्य दुःखी होंगे। लोभ की प्रवृत्ति के कारण आज इतना अधिक अपराध देखने को मिलता है। जितने लोभ–लालच के परिणाम कम होंगे उतना ही व्यक्ति भीतर से सुखी होगा। जब हमारे अन्दर ऐसा भाव आ जाए कि इन लोभ–लालच में हमें कुछ नहीं मिलने वाला है।

यह तो केवल देखने में आता है कि जिसके पास जितना ज्यादा परिग्रह है वह उतना ज्यादा सुखी है। लेकिन वास्तविकता इससे विपरीत रहती है। लोभ कषाय अगर आपके अंदर बढ़ती हुई होती है तो उसके कारण आपको कैसी भी नौकरी मिल जाए, बिजनेस मिल जाए लेकिन आपको उसमें सतुष्टि नहीं रहती है। आप चाहते हो कि C.A. बन जाएं। आपका I.S. में सेलेक्शन हो जाए। आप I.I.T. में चयनित हो जाएं। क्यों? क्योंकि अच्छी जॉब मिलेगी तो पैसा भी हमें अच्छा मिलेगा। आपके भाग्य और पुरुषार्थ से आपको अच्छी जॉब भी मिल जाती है और पैसे भी अच्छे मिलने लग जाते हैं। आपको जितने पैसे की आवश्यकता थी उससे अधिक मिलने लगे। आपकी पढ़ाई पूर्ण होने पर आपकी जॉब लगने के पश्चात् आपको पैसे मिलने लगे, तब तक दुनियाँ बहुत आगे निकल गई। अब वह पैसा आपको कम लगने लगता है। जब जमीन पर थे तब आपकी दृष्टि C.A. पर थी और जब आप C.A. बन गए तो आपकी दृष्टि और भी ऊपर की ओर उठ जाती है। आप उस कम्पनी के मालिक से सम्बन्ध रखने लगेंगे। तब आपको उनके जैसा बनने की इच्छा होने लगेगी। अब आपमें लोभ–कषाय और अधिक बढ़ने लगेगी। आपके मन में विचार आने लगेंगे कि दूसरे की कम्पनी में हम कब तक लेखा–जोखा करते रहेंगे। हमारा भी बिजनेस होना चाहिए, हमारी भी कम्पनी होनी चाहिए। ऐसा कब होता है?जब हम दूसरों की कम्पनी में कार्य करते हैं और हमारी दृष्टि उस मालिक पर पड़ती है। हमारे मन में लोभ बढ़ता चला जाता है। वहाँ से एक नई दौड़ प्रारम्भ हो जाती है। इस तरह हमारे अंदर लोभ की कभी कोई कमी नहीं होती है। हम चाहे C.A. बन जाए या I.I.T. इंजीनियर बन जाए। जब तक हमारे भीतर की लोभ कषाय शांत नहीं होती तब तक हम सुखी नहीं रह सकते हैं।

इसीलिए आचार्य कहते हैं–ऊपर–ऊपर के देवों में लोभ–लालच कम होता है। इसीलिए वे सुखी रहते हैं और उनमें बाहर के परिग्रहों की इच्छा बहुत कम होती है।

इच्छा–पूर्ति – इच्छाएँ मनुष्य में लोभ को बढ़ाती हैं। लोभ से लोभ बढ़ता चला जाता है। एक व्यक्ति था। उसको नई–नई कारों को खरीदने का शौक था। उसने अपने Godown में कारों की

लाइन खड़ी कर दी। लगभग एक सौ साठ (160) कारें अच्छी–अच्छी मॉडल की उसने खरीदी। उन कारों के बीच खड़े होकर वह हँसकर अपना फोटो खिंचवाता है। क्या उसे हँसने के लिए, फोटों खिंचवाने के लिए 160 कारों की आवश्यकता पड़ गई? आदमी इतनी हँसी के लिए अपना फोटो किसी समुद्र के किनारे नहीं खिंचवा सकता था क्या? इतनी सी हँसी के लिए बीस वर्षों की मेहनत करने के बाद वह कहता है कि मैं कारों के बीच रहकर खुश हूँ। जबकि दूसरा आदमी कहता है कि मैं बिना कारों के ही प्रसन्न हूँ। वह कहता है यदि तुम्हें एक सौ साठ कार खरीदने के बाद खुशी मिली रही है तो मुझे बिना कार के ही खुशी मिल रही है। मैं तुझसे ज्यादा सुखी हूँ और लम्बे समय तक सुखी रह सकता हूँ। यह जो खुशी का स्तर होता है वह इसी लोभ कषाय की मंदता पर निर्भर करता है। जब हमें इतनी मेहनत करने के बाद प्रसन्नता मिलती है। तब तक न जाने कितने टैक्सों के झंझट, उसकी यथा स्थिति बनाए रखने के लिए, उसे सुरक्षित रखने के लिए हमें कितनी टैंशन लेनी पड़ती है। यह सब उस व्यक्ति को याद नहीं रहता। आदमी इच्छापूर्ति करने का नाम सुख समझता है। यह उसकी सबसे बड़ी भूल होती है। जबकि इच्छा की कमी होने का नाम सुख है। लोभ कषायों को जितना कम करोगे आप उतने ही सुखी बनोंगे और उतने ही अच्छे देव भी बनोगे। आप यहाँ पर शान्त परिणामों से रहोगे तो आगे चलकर निश्चित ही देव गति को प्राप्त करोगे।

इस सूत्र से अपने दिमाग में इस बात की गांठ बांधकर रख लेना कि परिग्रह की कमी होना ही सुख का कारण होता है।

अभिमान – आचार्य कहते हैं–अभिमान की कमी होने से भी ऊपर–ऊपर के देव सुखी होते हैं। आज व्यक्ति को सबसे ज्यादा दुख तब होता है जब उसके अभिमान को ठेस पहुँचती हैं। वह अपना अभिमान स्वयं बनाता है। जब दूसरा व्यक्ति उसे सम्मान नहीं देता तो उसके अभिमान को ठेस पहुँचती है। इसलिए हमें अपने मन में विचार रखना चाहिए कि मैं जैसा हूँ वैसा ठीक हूँ। किसी दूसरे व्यक्ति से मुझे कोई आकांक्षा नहीं रखनी है। दूसरे की तुलना में अपनी कोई Image बनाने को अभिमान कहते हैं। जबकि अपनी नजर में अपनी जो Image होती है, वह अपना स्वाभिमान कहलाता है। हम क्या है?ऐसा हम जो महसूस कर रहे हैं वह हमारा स्वाभिमान है। जब व्यक्ति दूसरों की दृष्टि में अपनी पहचान बना लेते हैं, जैसे–मैं इतना बड़ा ऑफिसर हूँ या मैं इतना बड़ा वकील हूँ। इस तरह की बातें जब व्यक्ति के दिमाग में दूसरों की अपेक्षा से बन जाती हैं तो वही व्यक्ति का अभिमान बन जाता है। जब उस अभिमान की पूर्ति नहीं होती है तब व्यक्ति दुःखी हो जाता है। दूसरों की अपेक्षा से अपने अंदर जो मान पैदा होता है उसे अभिमान कहते हैं। जबकि अपनी ही वास्तविकता की पहचान करने से भीतर जो मान पैदा होता है उसे स्वाभिमान कहते हैं। स्वाभिमान में त्याग की भावना होती है।

उदाहरण के लिए– अकबर राजा के समय की बात है। जबकि सीकरी में उसका राज्य चलता था। उसने एक साधु को अपने दरबार में बुलाया। जो व्यक्ति उस साधु को दरबार में बुलाने के लिए राजा द्वारा भेजा गया था वह साधु उस व्यक्ति से कहता है– ''संतन को क्या काम सीकरी में''?उस

जमाने में अकबर जैसा राजा किसी को बुलाये यह बहुत बड़ी बात होती थी। राजा की दृष्टि उसके ऊपर पड़ जाए, इसके लिए व्यक्ति अनेकों प्रयास करता है, अपने हाथ–पैर चलाता है, इतनी अधिक जी–हजूरी करता है इसका आप अंदाज नहीं लगा सकते हैं। राजा की निगाह में मेरी कुछ पहचान बन जाए। यहाँ इसके विपरीत हो रहा है। राजा स्वयं साधु को आमंत्रण दे रहा है। वह व्यक्ति राजा के पास वापस चला जाता है और सारी बात बता देता है। यह सुनकर राजा को धक्का लगता है कि एक फकीर (साधु) राजा के दरबार में आने के लिए मना कर रहा है–और कहता है–'हमें आपके यहाँ आकर क्या करना है ?' क्योंकि आप जो दोगे वह हमें नहीं चाहिए। इसको ही स्वाभिमान कहते हैं। क्योंकि जहाँ स्वाभिमान होता है वहाँ अभिमान की कभी भी इच्छा नहीं होती है। वहाँ वह व्यक्ति 'स्व' की रक्षा करने के लिए बाकी सब कुछ छोड़ने के लिए भी तैयार रहता है। जब व्यक्ति के अंदर अभिमान आता है तो वह हर किसी की चाकरी करने के लिए, जी हजूरी करने के लिए तैयार रहता है और अपना 'स्व' को खो चुका होता है। इस तरह हम अपने ही विचारों से गलत रास्तों पर चले जाते हैं।

स्वाभिमान का अर्थ– स्व–अपने, अपने व्यक्तित्व की या अपने अस्तित्व की या फिर अपने मान की रक्षा करना होता है। जब व्यक्ति अपने मान की रक्षा के लिए किसी की भी चापलूसी करते हैं तो फिर आपको मान की ही चिंता रहती है। जिस दिन आपको मान मिलेगा उस दिन आप प्रसन्न रहेंगे जिस दिन आपको मान नहीं मिलेगा उस समय आप दुःखी रहेंगे। जितना अधिक मान होगा उतना ही अधिक व्यक्ति दुःखी भी होता है।

मान क्यों होता है? मान भीतर की कषाय होती है। इस मान कषाय से उत्पन्न होने वाले अहंकार को ही अभिमान कहते हैं। इस अभिमान की स्थिति ऊपर–ऊपर के देवों में कम होती चली जाती है। इसलिए वे अधिक सुखी रहते हैं। इसलिए आप भी अपने अभिमान को घटाओगे तो सुखी होते चले जाओगे।

शंका–क्या मुनिराजों में भी स्वाभिमान रहता है ?

समाधान–हाँ ! मुनिराजों में भी स्वाभिमान रहता है। स्वाभिमान के कारण ही वे किसी भी राजा जिसका अहंकार बढ़ रहा हो, उसके बुलाने पर कभी भी नहीं जाते हैं। राजा लोग स्वयं ही उनके पास आते हैं। प्रधानमंत्री हो या राष्ट्रपति हो यदि उनको दर्शन करने के लिए आना है तो वे आ सकते हैं। परन्तु मुनि–महाराज उनसे बात करने के लिए उनके घर नहीं जाते हैं। यह उनका स्वाभिमान है। कुछ लोग इसकी परिभाषा ही बदल देते हैं। लोग कहते हैं कि यह साधु कितने सरल हैं जो उनके निवेदन करने पर मंत्रालय चले गए या अन्य जगह चले गये। यह सरलता नहीं है यह उनमें स्वाभिमान का अभाव है। क्योंकि उन्हें उनसे काम है और इन्हें उनसे काम है। जब दो मानी आपस में मिल जाते हैं तो एक दूसरे का काम कर देते हैं। मुनि महाराज को ऐसे किसी स्थानों पर जाने का कोई प्रयोजन ही क्या है कि वे बिना कारण किसी स्थान पर जाएं?इससे उनके स्वाभिमान

में कमी आ जाती है। मौन पूर्वक आहार करना भी स्वाभिमान की रक्षा करने के लिए होता है। क्योंकि मौनपूर्वक आप आहार करेंगे तो आपको याचना नहीं करनी पड़ेगी। इससे आपके स्वाभिमान की भी रक्षा हो जाती है।

सूत्र का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं–ऊपर–ऊपर के देवों में गति की हीनता होती है। अनेक प्रकार के देशों में जाकर रति करना, उनमें रमना, खेलना, इस प्रकार की रति का प्रकर्ष जिनके अंदर नहीं होता है वह गति से हीन देव कहलाते हैं। यही सुख के कारण बन जाते हैं।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों का शरीर सात हाथ प्रमाण होता है। अरत्नि भी एक माप होती है। जैसे–एक हाथ है। उस हाथ की मुट्ठी बना ली। अब लम्बाई कुछ कम हो जाएगी इसको अरत्नि कहा जाएगा। जब इसमें कनिष्ठा (ऊँगली) खोल दी तो इसे रत्नि कहेंगे। देवों का प्रमाण इसी अरत्नि मुष्ठी से ही मापा जाता है। इसके लिए एक सूत्र भी आता है, ''करमुष्टिकरो रत्निरर्तनः साकनिष्ठिका''। यहाँ पर इन देवों की अरत्नि से माप की जाती है। सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की ऊँचाई छः अरत्नि प्रमाण हो जाती है। ब्रह्म, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ इन चार स्वर्गों में पाँच अरत्नि का शरीर होता है। शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार इन चारों में चार अरत्नि प्रमाण शरीर रह जाता है। आनत, प्राणत, आरण, अच्युत इन चार स्वर्गों में देवों के शरीर तीन अरत्नि के होते हैं। इसके आगे के देवों के शरीर के विषय में सबसे पहले नौ ग्रैवेयिक का विभाजन किस प्रकार होता है?इसे आचार्य बताते हैं। तीन ग्रैवेयिक–अधो ग्रैवेयिक कहलाते हैं। उसके ऊपर के तीन ग्रैवेयिक मध्य ग्रैवेयिक कहलाते हैं। उसके ऊपर के तीन ग्रैवेयिक ऊर्ध्व ग्रैवेयिक कहलाते हैं। नीचे के तीन अधो ग्रैवेयिक के देवों के शरीर की ऊँचाई में आधा अरत्नि और कम हो जाता है। इस तरह से नीचे के तीन ग्रैवेयिकों में ढाई अरत्नि प्रमाण का शरीर होता है। मध्यम ग्रैवेयिक में दो अरत्नि प्रमाण शरीर होता है। ऊपर के तीनों ग्रैवेयिकों में डेढ़ अरत्नि प्रमाण शरीर रह जाता है। यह व्यवस्था नवग्रैवेयिक तक बन जाती है। उसके ऊपर नवअनुदिश विमान होते हैं। उन नवअनुदिशों में भी डेढ़ अरत्नि प्रमाण शरीर होता है।

पाँच अनुत्तरों में सभी देवों की ऊँचाई एक अरत्नि प्रमाण रह जाती है। सर्वार्थसिद्धि के देव एक हाथ के होते हैं। ये सभी देव नीचे वाले देवों से बहुत अधिक सुन्दर–सुन्दर होते है। उनके पास परिग्रह तो बहुत कम होगा परन्तु जो भी वस्तुएं होगी वे बहुत अधिक सुंदर तथा चमकीली, Delightful होंगी। जो उनके वस्त्र होंगे, आभरण होंगे, उनके जो स्थान होंगे वे सभी बहुत अधिक दिव्य–दिव्य होते चलें जाएंगें।

इसके पश्चात् परिग्रह के विषय में आचार्य बताते हैं। ऊपर–ऊपर के देवों के जो विमान है उसमें जो सामग्रियों की संख्या है वह कम–से–कम होती चली जाती है। इनके अन्दर विक्रिया करने की क्षमता तो बहुत अधिक होती है परन्तु ये देव कहीं जाते नहीं है। यें ही इन देवों की मुख्य विशेषता है। इन देवों में कहीं भी जाने की क्षमताएं तो बहुत अधिक है परन्तु कहीं भी जाते नहीं हैं।

ऊपर–ऊपर के देव बहुत अधिक शान्त रहते हैं। इसी शान्ति का नाम सुख है। अभिमान भी इन देवों में लेश्याओं की कमी के कारण कम होता है।

वैमानिक देवों में लेश्याएं कौन–कौन सी होती है तो आचार्य बताते हैं–

पीत–पद्म–शुक्ललेश्या द्वि–त्रि–शेषेषु।।22।।

अर्थ– प्रथम चार (दो युगल) स्वर्गों में पीत लेश्या होती है। पाँचवें से दसवें तक अर्थात् अगले तीन युगल में पद्म लेश्या है। शेष छह स्वर्गों में तथा नव ग्रैवेयिकों में शुक्ल लेश्या होती है। नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों में परम शुक्ल लेश्या होती है।

आचार्य इस सूत्र में देवों की लेश्याओं के विषय में बताते हुए कहते हैं। शुभ लेश्या तीन प्रकार की होती हैं। सौधर्म–ऐशान स्वर्ग के देवों में पीत लेश्या होती है। सानत्कुमार–माहेन्द्र स्वर्गों के देवों में कुछ पीत लेश्या वाले देव होंगे और कुछ पद्म लेश्या वाले देव होंगे। ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर, लान्तव–कापिष्ठ स्वर्ग के देवों की पद्म लेश्या होती है। इसके बाद शुक्र–महाशुक्र, शतार–सहस्रार स्वर्ग के देवों की पद्म और शुक्ल लेश्या होती है। आनत–प्राणत, आरण–अच्युत और नव ग्रैवेयिक के देवों में शुक्ल लेश्या होती है। उसके ऊपर जो नव अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमानों के देवों की परम शुक्ल लेश्या ही होती है। इस तरह से ऊपर–ऊपर के देवों की लेश्या विशुद्ध होती चली जाती है। इसी कारण ये देव सुखी एवं संतुष्ट रहते हैं।

आगे के सूत्र में कल्प संज्ञा कहाँ तक है?इस विषय में आचार्य बताते हैं–

प्राग्ग्रैवेयकेभ्यः कल्पाः।।23।।

अर्थ–ग्रैवेयिक से पहले कल्प हैं।

अर्थात् सौधर्म से लेकर नौग्रेवेयक से पहले तक कल्प हैं। शेष कल्पातीत हैं।

आगे के सूत्र में लौकान्तिक देवों के स्थान के विषय में आचार्य बताते हैं–

ब्रह्मलोकालया लौकान्तिकाः।। 24।।

अर्थ–ब्रह्मलोक नामक पाँचवें स्वर्ग के अन्त में रहने वाले लौकान्तिक देव हैं। ब्रह्मलोक ही है आलय अर्थात् निवास जिनका वे लौकान्तिक देव होते हैं। जो स्वर्ग से चयकर एक भव धारण करके मुक्त हो जाते हैं।

आचार्य कहते हैं–ये विशेष देव होते हैं। इन्हें लौकान्तिक देव भी कहते हैं। आचार्य ने इसकी विशेषता बताने के लिए अलग से एक सूत्र बनाया है। क्योंकि इनका देवों में विशिष्ट स्थान है। देवों में ये देवऋषि कहलाते हैं क्योंकि ये ब्रह्मचारी होते हैं। ब्रह्म स्वर्ग में रहकर भी इनके स्थान अलग से,

लौकान्तिक देव	
निवास	– पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग के अंत में, 8 दिशाओं में
नाम की सार्थकता	– लोक+अंत=ब्रह्म स्वर्ग+अंत (में निवास जिनका) – लोक (संसार)+अंत=संसार का अंत जिनका
भेद	– 1. सारस्वत 2. आदित्य 3. वह्नि 4. अरुण 5. गर्दतोय 6. तुषित 7. अव्याबाध 8. अरिष्ट 8+(16 अन्य)=24 भेद
कुल संख्या	– **4,07,820**
विशेषता	– 1. स्वतन्त्र 2. परस्पर हीनाधिकता से रहित 3. ब्रह्मचारी 4. चौदह पूर्व के पाठी 5. सम्यग्दृष्टि 6. संसार से विरक्त 7. देवर्षि 8. तीर्थंकरों के तप कल्याणक में ही आते हैं

सबसे अन्त में बने हुए हैं। इस ब्रह्मलोक के अन्त में इनका निवास स्थान बना रहता है। ब्रह्म स्वर्ग में तो देवियां रहेंगी लेकिन ब्रह्म स्वर्ग के अन्त में जहाँ ये देव रहते हैं वहाँ पर देवियाँ नहीं पहुँचती हैं। इसीलिए इनको देवऋषि कहा जाता है। ये देव इतने विशेष होते हैं कि जब भगवान के गर्भ तथा जन्म कल्याणक महोत्सव में सौधर्म–ईशान देव पहुँचते हैं तब ये देव नहीं जाते हैं। ये देव तो भगवान के वैराग्य होने पर जाते हैं। ये देव भगवान के वैराग्य की अनुमोदना करते हुए कहते हैं–'धन्य हैं आप भगवन्। आपने ऐसा विचार किया क्योंकि इसके बिना तो संसारी जीवों का मोक्षमार्ग कैसे प्रशस्त होगा?आप जब तक दीक्षा धारण नहीं करेंगे, तप नहीं करेंगे, आपको जब तक केवलज्ञान नहीं होगा, आपकी जब तक दिव्यध्वनि नहीं खिरेगी, तब तक संसारी जीवों को मोक्षमार्ग कौन बताएगा?' इस प्रकार वैराग्य की अनुमोदना करने के लिए लौकान्तिक देव उतर कर आते हैं। ये सभी देव द्वादशांग के पाठी होते हैं अर्थात् सभी को जिनवाणी कंठस्थ होती है। इनकी एक अन्य विशेषता यह भी होती है कि ये देव एक भवातारी होते हैं। जो देव लौकान्तिक देव बन जाते हैं उन देवों के लिए नियम बन जाता है कि वे आगामी पर्याय मनुष्य की प्राप्त करते हैं तथा उसी भव से उन्हें मोक्ष हो जाता है।

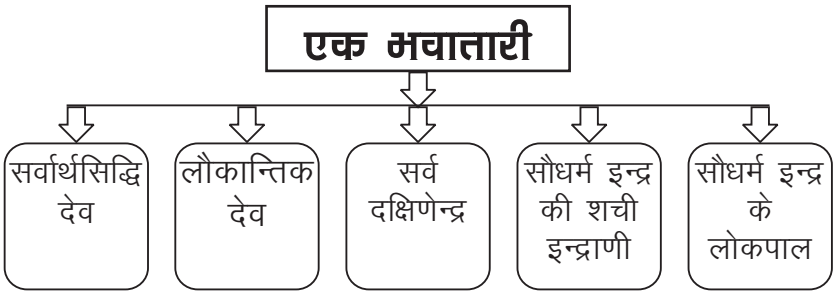

जन्म, जरा और मरण से व्याप्त संसार लोक कहलाता है और उसका अन्त लोकान्त कहलाता है। इस प्रकार संसार के अन्त में जो होते हैं वे **लौकान्तिक** हैं।

लौकान्तिक देवों के नाम–

सारस्वतादित्य–वह्नयरूण–गर्दतोय–तुषिता–व्याबाधारिष्टाश्च।।25।।

अर्थ– सारस्वत, आदित्य, वन्हि, अरूण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, अरिष्ट–ये आठ प्रकार के लौकान्तिक देव हैं।

इस सूत्र में आचार्य इन लौकान्तिक देवों के नाम बताते हुए लिखते हैं– सबसे पहले सारस्वत नाम के देव होते हैं। उसके बाद आदित्य, वन्हि, अरूण, गर्दतोय, तुषित, अव्याबाध, अरिष्ट ये सभी लौकान्तिक देवों के भेद हैं। इन देवों की निश्चित संख्या होती है। सौधर्म–से लेकर ऐशान स्वर्ग तक के देवों की संख्या असंख्यात होती है। इनकी संख्या चार लाख सात हजार आठ सौ छह (407806) होती है। इससे तात्पर्य यह निकलता है कि जो विशिष्ट पद होते है उनकी संख्या निश्चित होती है और जो सामान्य पद पर होते हैं उनकी संख्या अनिश्चित होती है।

लौकान्तिक देवों के विमान

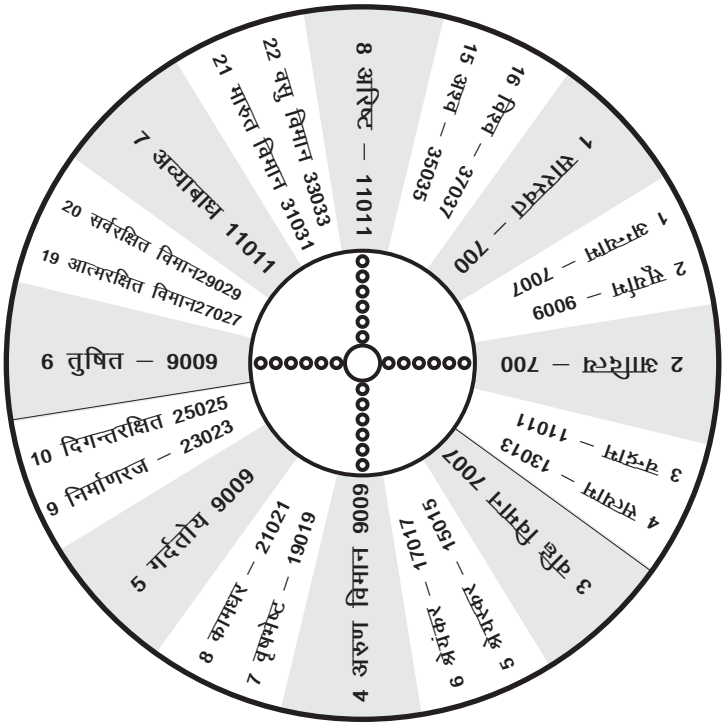

पूर्व–उत्तर आदि आठों ही दिशाओं में क्रम से ये सारस्वत आदि देवगण रहते हैं। यथा–पूर्वोत्तर कोण में सारस्वतों के विमान हैं। पूर्व दिशा में आदित्य, पूर्व–दक्षिण दिशा में वन्हि, दक्षिण दिशा में अरुण, दक्षिण–पश्चिम कोने में गर्दतोय, पश्चिम दिशा में तुषित, उत्तर–पश्चिम दिशा में अव्याबाध और उत्तर दिशा में अरिष्टों के विमान हैं। सूत्र में 'च' शब्द है उससे इनके मध्य में दो दो देवगण और हैं इसका समुच्चय होता है। यथा–सारस्वत और आदित्य के मध्य में अग्न्याभ और सूर्याभ हैं। इसके आगे क्रम से चन्द्राभ और सत्याभ, श्रेयस्कर और क्षेमंकर, वृषभेष्ट और कामचार, निर्माणरजस् और दिगन्तरक्षित, आत्मरक्षित और सर्वरक्षित, मरुत् और वसु , अश्व और विश्व हैं। ये सब देव स्वतंत्र हैं क्योंकि इनमें हीनाधिकता नहीं पायी जाती। दूसरे देव इनकी अर्चा करते हैं।

आगे के सूत्र में अहमिन्द्रों की विशेषताओं का वर्णन करते हुए लिखते हैं–

विजयादिषु द्विचरमाः ।।26।।

अर्थ– विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित विमानवासी अहमिन्द्र मनुष्य के दो भव धारण करके नियम से मोक्ष जाते हैं। किन्तु सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र मनुष्य का एक भव धारण करके ही मोक्ष चले जाते हैं।

'विजयादिषु' में विजय आदि से अर्थ है जो विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित तथा नौ अनुदिश विमानों में रहने वाले जो देव होते हैं वे दो भव–अवातारी होते हैं अर्थात् इनको केवल मनुष्यों के दो भव ही लेने पड़ते हैं। इन देवों के लिए भी नियम बना हुआ है कि जो इन विमानों में उत्पन्न होंगे वे अधिक से अधिक दो भव धारण करके मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं।

आगे के सूत्र में तिर्यंचों का वर्णन करते हुए आचार्य लिखते हैं–

औपपादिकमनुष्येभ्यः शेषस्तिर्यग्योनयः ।।27।।

अर्थ– उपपाद जन्म वाले देव, नारकी और मनुष्यों के अतिरिक्त जो संसारी जीव हैं वे सब तिर्यंच हैं।

आचार्य बताते हैं–उपपाद जन्म वाले (देव, नारकी) और मनुष्य के अतिरिक्त जो भी शेष जीव हैं वे सभी तिर्यंच जाति के जीव हैं।

शंका– देवगति के वर्णन में आचार्य ने तिर्यंचों का वर्णन क्यों किया?

समाधान– आचार्यों की यह विशेषता होती है वे व्यर्थ में किसी भी सूत्र को ही नहीं अपितु एक अक्षर भी नहीं लिखते हैं। इस सूत्र में वह बताना चाहते हैं कि तीसरे अध्याय में

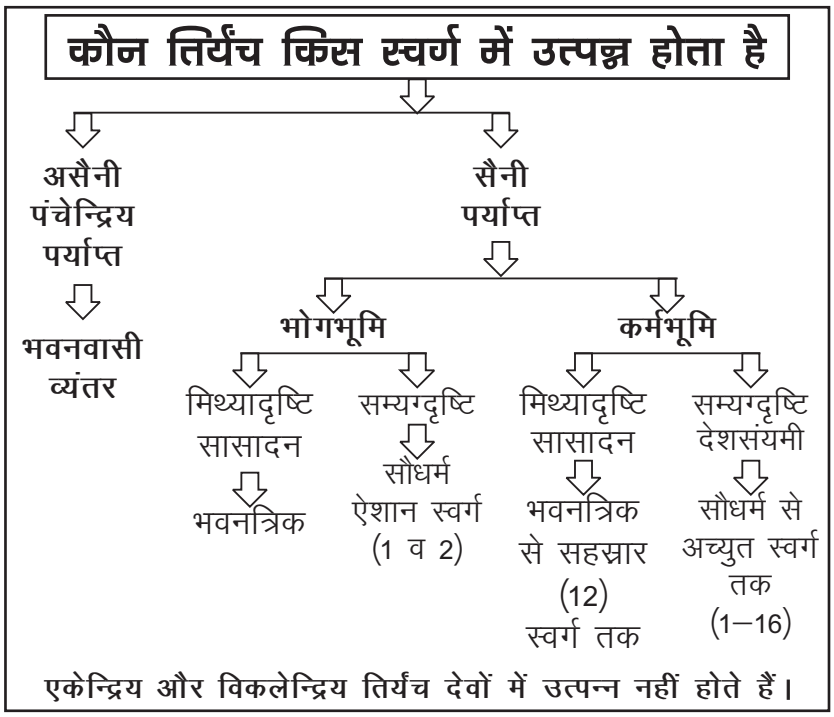

मनुष्यों का वर्णन किया गया था तथा इसमें देवों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त, जितने भी जीव शेष हैं वे सभी तिर्यंच–गति के जीव होते हैं। तिर्यंचगति के जीव की एक परिभाषा यह भी बन सकती है कि उपपाद जन्म वाले और मनुष्यों को छोड़कर शेष सभी जीव तिर्यंच जीव होते हैं।

भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

स्थितिरसुरनाग–सुपर्ण–द्वीप–शेषाणां सागरोपम–त्रिपल्योपमार्धहीनमिताः।। 28।।

अर्थ– असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्ण कुमार, द्वीपकुमार और शेष भवनवासी देवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः एक सागरोपम, तीन पल्योपम, अढ़ाई पल्योपम, दो पल्योपम और डेढ़ पल्योपम होती है।

इस सूत्र में भवनवासी देवों की आयु का वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं भवनवासी देवों में जो असुरकुमार के देव होते हैं उनकी अधिकतम आयु एक सागर की होती है। नागकुमार देवों की तीन पल्य होती है। सुपर्णकुमारों की ढाई पल्य, द्वीपकुमारों की दो पल्य की आयु होती है और बाकी जो शेष बचे उन छहों कुमारों की डेढ़–डेढ़ पल्य की उत्कृष्ट आयु होती है।

वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

सौधर्मैशानयोः सागरोपमेऽधिके।। 29।।

अर्थ– सौधर्म–ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक है।

भवनवासी देवों की आयु का वर्णन करने के बाद आचार्य वैमानिक देवों की आयु का वर्णन इस सूत्र में करते हैं। सौधर्म व ऐशान स्वर्ग के देवों की आयु दो सागर से कुछ अधिक होती है।

शंका–भवनवासी देवों के बाद वैमानिक देवों की आयु का वर्णन क्यों किया?उससे पहले तो ज्योतिष्क और व्यंतर देव आते हैं।

समाधान– जैसा कि पहले बताया गया है आचार्य किसी भी अक्षर को अकारण नहीं लिखते हैं। इन देवों का वर्णन बहुत ही छोटे से सूत्र के माध्यम से आगे किया जायेगा।

इसके बाद आगे के देवों की आयु को बताते हुए आचार्य लिखते हैं–

सानत्कुमारमाहेन्द्रयोः सप्त।।30।।

अर्थ– सानत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग में देवों की आयु सात सागर से कुछ अधिक है।

जैसा कि आपको पहले बताया था ऊपर–ऊपर के देवों की आयु अधिक होती चली जाती है। वहाँ सुख भी अधिक है जो अधिक समय तक रहता है। इनको पुण्यात्मा जीव कहते हैं। ऐसे पुण्यात्मा जीव बनने के लिए सप्त व्यसनों का त्याग करना पड़ेगा। बारह व्रतों को धारण करके ही

आप इस गति को प्राप्त कर सकते हैं। पाँच व्रतों के अतिरिक्त सात शील व्रत भी होते हैं। उन सप्त शील व्रतों को जो धारण करेंगे उनको इस तरह की देवगति प्राप्त होती है। बाकी जो सप्त व्यसनों में लिप्त रहते हैं, उन्हें तीसरे अध्याय में जिस नरकगति का वर्णन किया गया है, वह नरकगति उन्हें मिलती है।

पाँचवें ब्रह्मलोक से लेकर सोलहवें अच्युत कल्प पर्यन्त छह युगलों की स्थिति के विषय में आचार्य कहते हैं–

त्रि–सप्त–नवैकादश–त्रयोदश–पंचदशभिरधिकानि तु।।31।।

अर्थ– आगे के युगलों में सात सागर से क्रम पूर्वक तीन, सात, नौ, ग्यारह, तेरह, और पन्द्रह सागर अधिक अधिक हैं। अर्थात् तीसरे युगल में दश, चौथे युगल में चौदह, पाँचवें युगल में सोलह, छट्ठें युगल में अट्ठारह, सातवें युगल में बीस, आठवें युगल में बाईस सागर उत्कृष्ट आयु हैं। 'तु' का अर्थ है–तो। जिसका सम्बन्ध सूत्र 29 से है। अर्थात् कुछ अधिक। अतः उपर्युक्त सभी आयुओं में बारहवें स्वर्ग पर्यन्त कुछ अधिक और जोड़ लेना। यथा तीसरे युगल में दश सागर से कुछ अधिक। कुछ अधिक–कितनी? अपवर्तनघात वाले घात–पूर्वायुष्क जीवों में–सम्यग्दृष्टि के तो अपने–अपने स्वर्ग सम्बन्धी आयु से एक अन्तर्मुहूर्त कम आधा सागर अधिक होती है परन्तु मिथ्यादृष्टि की पल्य के असंख्यातवें भाग प्रमाण ही आयु अधिक होती है। दोनों के ही यह अधिकता बारहवें स्वर्ग पर्यन्त ही है।

आचार्य कहते हैं कि आगे के स्वर्गों में तीन जोड़ देना अर्थात् जो सनत्कुमार, महेन्द्रकुमार देवों की आयु सात सागर बताई थी उसमें तीन जोड़ देना। यह आयु ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गों के देवों की हो जाएगी। इस तरह ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के देवों की आयु दस सागर होती है। उसके बाद उन्हीं स्वर्गों में सात और जोड़ देना। इस तरह (7+7) यह लान्तव और कापिष्ठ स्वर्गों के देवों की आयु चौदह सागर हो जाती है। इसके बाद उसी सात में नौ जोड़ देने पर (7+9) यह आयु शुक्र–महाशुक्र स्वर्गों के देवों की आयु सोलह सागर होती है। इसके आगे शतार–सहस्रार स्वर्गों के देवों की आयु पिछले सूत्र के सात और एकादश (ग्यारह) जोड़ देने पर अट्ठारह सागर की हो जाती है। आनत–प्राणत स्वर्गों में सात और त्रयोदश (तेरह) जोड़ देने पर बीस सागर की आयु हो जाती है। आरण–अच्युत स्वर्ग के देवों की आयु के लिए सात में पंचदश (पन्द्रह) जोड़ने पर बाइस सागर की आयु हो जाती है। यह आयु सोलहवें स्वर्ग की उत्कृष्ट आयु हो जाती है। जहाँ पर कल्पवासी देव उत्कृष्ट हो जाते हैं वह सोलहवां स्वर्ग अच्युत स्वर्ग कहलाता है।

कल्पातीत देवों की स्थिति के विषय में आचार्य बताते हैं–

आरणाच्युतादूर्ध्वमेकैकेन नवसु ग्रैवेयकेषु विजयादिषु सर्वार्थसिद्धौ च।।32।।

अर्थ– आरण और अच्युत स्वर्ग से ऊपर नव ग्रैवेयिक में, नव अनुदिशों और विजय आदि विमानों में

एक–एक सागर बढ़ती हुई आयु है। अर्थात्, प्रथम ग्रैवेयिक में तेईस सागर और नौवें ग्रैवेयिक में इक्कतीस सागर, नव अनुदिश में बत्तीस सागर और पंच अनुत्तर विमानों में तैंतीस सागर की उत्कृष्ट आयु है। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती है।

कौन मनुष्य किस स्वर्ग में उत्पन्न होता है

मनुष्य	उत्पत्ति स्वर्ग
1) **भोगभूमिया** मिथ्यादृष्टि व सासादन गुणस्थानवर्ती	भवनत्रिक
सम्यग्दृष्टि	सौधर्म–ऐशान स्वर्ग (1 व 2)
2) **कुभोगभूमिया** मिथ्यादृष्टि व सासादन गुणस्थानवर्ती	भवनत्रिक
सम्यग्दृष्टि	सौधर्म–ऐशान स्वर्ग (1 व 2)
3) **कर्मभूमिया** मिथ्यादृष्टि व सासादन गुणस्थानवर्ती	भवनवासी से अच्युत स्वर्ग (16) तक
सम्यग्दृष्टि व देशसंयमी	सौधर्म से अच्युत स्वर्ग (1-16)
द्रव्य जिनलिंगी	ग्रैवेयक तक
संकल संयमी–भावलिंगी मुनि	सौधर्म से सर्वार्थसिद्धि तक
अभव्य जिनलिंगी	ग्रैवेयक तक
परिव्राजक तपस्वी	ब्रह्म स्वर्ग (5) तक
आजीवक कांजी आहारी, अन्य लिंगी	सहस्रार स्वर्ग (12) तक

देव और नारकी मरकर देवों में उत्पन्न नहीं होते हैं।

इन सोलह स्वर्गों के विमानों के पश्चात् नव ग्रैवेयिक, नव अनुदिश, पंच अनुत्तर विमानों में रहने वाले देवों की आयु के विषय में बताते हुए आचार्य कहते हैं– आरण–अच्युत स्वर्ग से ऊपर के विमानों में रहने वाले अर्थात् नव ग्रैवेयिक में रहने वाले देवों की आयु में एक–एक सागर की वृद्धि करते चले जाना। इस तरह 22+9=31 सागर की आयु नवग्रैवेयिकों के देवों में होती चली जाती है। अर्थात् अधो ग्रैवेयकों में–पहले में 23 सागर, दूसरे में 24 सागर, तीसरे में 25 सागर उत्कृष्ट आयु होती है। मध्यम ग्रैवेयकों में–पहले में 26 सागर, दूसरे में 27 सागर, तीसरे में 28 सागर उत्कृष्ट आयु होती है। उपरितम ग्रैवेयकों में–पहले में 29 सागर, दूसरे में 30 सागर, तीसरे में 31 सागर उत्कृष्ट आयु होती है। इसके बाद नव अनुदिशों में केवल एक सागर ही जोड़ना। नव अनुदिश के देवों की आयु बत्तीस सागर हो जाती है। उसके ऊपर जो जयन्त, वैजयन्त आदि जो पाँच अनुत्तर विमान हैं उनमें भी एक सागर की वृद्धि कर देने पर उन विमानों के देवों की आयु अधिकतम तैंतीस सागर हो जाती है। अन्तिम स्वर्ग सर्वार्थसिद्धि के देवों की आयु तैंतीस सागर ही होती है। उनकी जघन्य आयु नहीं होती है। आपने आदिनाथ भगवान की पूजा में पढ़ा होगा, ''सर्वारथ–सिद्धि तैं चये, मरुदेवी, उर आय'' आदिनाथ भगवान सर्वार्थसिद्धि विमान से चयकर माँ मरूदेवी के गर्भ में आए थे।

स्वर्गों में जघन्य आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

अपरा पल्योपममधिकम् ।।33।।

अर्थ– सौधर्म और ऐशान स्वर्ग में जघन्य आयु कुछ अधिक एक पल्योपम है।

यहाँ आचार्य देव 'अपरा' अर्थात् जघन्य आयु का क्रम बताते हुए कहते हैं–सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु अगर किसी जीव को मिलेगी तो पल्योपम से कुछ अधिक मिलेगी। ज्ञातव्य है कि पल्य भी असंख्यात वर्षों का होता है।

सौधर्म और ऐशान कल्प से आगे के देवों की जघन्य स्थिति के विषय में आचार्य बताते हैं–

कौन देव मरकर कहाँ उत्पन्न होता है

सभी देव मरकर देवों में, नरकों में, भोगभूमिया में, विकलत्रय, असैनी पंचेन्द्रिय, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर अग्नि व वायु, सभी अपर्याप्तक में उत्पन्न नहीं होते हैं।

1)	भवनवासी से ऐशान (2) तक	–बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, –पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच व मनुष्य
2)	सानत्कुमार से सहस्रार (3-12) तक	–पंचेन्द्रिय सैनी तिर्यंच व मनुष्य (एकेन्द्रिय नहीं होते)
3)	आनत (13) स्वर्ग से ऊपर के	मनुष्य ही होते हैं (तिर्यंच नहीं होते)
	63 शलाका पुरुषों सम्बन्धी विशेषता	
	–भवनत्रिक के देव	63 शलाका पुरुष नहीं होते हैं।
	–सौधर्म से ग्रैवेयक तक के देव	63 शलाका पुरुषों में उत्पन्न हो सकते हैं।
	–अनुदिश व अनुत्तर के देव	तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलभद्र तो हो सकते हैं। नारायण, प्रतिनारायण नहीं हो सकते हैं।

परतः परतः पूर्वा पूर्वाऽनन्तरा।।34।।

अर्थ– पहले पहले युगल की उत्कृष्ट आयु आगे आगे के युगलों की जघन्य आयु होती है। इस क्रम से विजयादि चार विमानों तक जघन्य आयु जानना चाहिए। सर्वार्थासिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती है।

आचार्य कहते हैं–परतः परतः अर्थात् आगे–आगे भी आप इसी तरह से प्रत्येक में लगाते रहना। जो पहले सौधर्म–ऐशान स्वर्ग के देव की उत्कृष्ट आयु है वही ऊपर के सानत्कुमार–माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की जघन्य आयु हो जाएगी। वहाँ दो सागर से कुछ अधिक जघन्य आयु हो जाएगी। जो सानत्कुमार–माहेन्द्र स्वर्ग के देवों की सात सागर से कुछ अधिक उत्कृष्ट आयु है वह ब्रह्म–ब्रह्मोत्तर में जघन्य आयु हो जाएगी। इसी तरह से आगे के देवों में लगाते चले जाना। सर्वार्थसिद्धि में जघन्य आयु नहीं होती है।

नारकियों की जघन्य आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

नारकाणां च द्वितीयादिषु।।35।।

अर्थ– पहले–पहले नरकों की उत्कृष्ट आयु दूसरे–दूसरे नरकों के नारकियों की जघन्य आयु होती है।

जिस तरह से स्वर्गों के देवों की जघन्य आयु बताई थी उसी तरह से नरकों के नारकियों की भी जघन्य आयु लगाना। पहले–पहले नरकों की उत्कृष्ट आयु दूसरे–दूसरे नरकों के नारकियों की जघन्य आयु होती है। भाव यह है–रत्नप्रभा–पहले नरक की उत्कृष्ट आयु एक सागर है यह दूसरे नरक में जघन्य आयु होगी। दूसरे नरक की उत्कृष्ट आयु तीन सागर है यह तीसरे नरक की जघन्य आयु होगी। इस प्रकार का क्रम रहेगा।

प्रथम नरक की जघन्य आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

दशवर्षसहस्राणि प्रथमायाम् ।।36।।

अर्थ– पहले नरक में नारकियों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है।

आचार्य प्रथम नरक के नारकियों की जघन्य आयु बताते हुए कहते हैं–नारकियों की दस हजार वर्ष जघन्य आयु होती है।

भवनत्रिक-आयु आदि

देवों के नाम	आयु		देवांगना आयु	आहारेच्छा अंतराल	उच्छवास अंतराल	शरीर की ऊँचाई
	जघन्य	उत्कृष्ट (सागर में)				
भवनवासी असुरकुमार	10 हजार वर्ष	1 सागर	3 पल्य	1000 वर्ष	1 पक्ष बाद	25 धनुष (37.5 मीटर)
नागकुमार	10 हजार वर्ष	3 पल्य	पल्य/8	12½ दिन	12½ मुहूर्त बाद	10 धनुष (15 मीटर)
सुपर्णकुमार	10 हजार वर्ष	2½ पल्य	3 पूर्व कोटी	12½ दिन		
द्वीपकुमार	10 हजार वर्ष	2 पल्य	3 करोड़ वर्ष	12½ दिन		
शेष 6 प्रकार	10 हजार वर्ष	1½ पल्य	3 करोड़ वर्ष	प्रथम 3 प्रकार 12 दिन शेष 3 प्रकार 7½ दिन	प्रथम 3 प्रकार 12 मुहूर्त शेष 3 प्रकार 7 मुहूर्त	
व्यंतर	10 हजार वर्ष	1 पल्य	पल्य/2	कुछ अधिक 5 दिन	कुछ अधिक 5 मुहूर्त	10 धनुष (15 मीटर)
ज्योतिषी	पल्य/8	1 पल्य	सभी ज्योतिषी देवांगनाओं की अपने देवों की आयु के आधे प्रमाण			7 धनुष लगभग (10.5 मीटर)
चन्द्र		पल्य+1 लाख वर्ष				
सूर्य	पल्य/4	पल्य+ 1000 वर्ष				
ग्रह		पल्य+ 100 वर्ष				
नक्षत्र	पल्य/8	पल्य/2				
तारे		पल्य/4				

जिन व्यंतर देवों की आयु मात्र 10 हजार वर्ष है, उनका आहार दो दिन बाद और श्वासोच्छवास सात प्राणापान बाद होता है।

भवनवासियों की जघन्य आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

भवनेषु च।।37।।

अर्थ– भवनवासियों में भी दस हजार वर्ष जघन्य आयु है। यहाँ 'च' से अर्थ है और अर्थात् जो ऊपर कह दिया उसी की भवनवासियों में भी संगति कर लेना अर्थात् भवनवासी देवों की जघन्य आयु दस हजार वर्ष होती है।

व्यन्तरों की जघन्य आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

व्यन्तराणां च।।38।।

अर्थ–व्यन्तर देवों की भी जघन्य आयु दस हजार वर्ष की है।

यहाँ पर भी आचार्य 'च' शब्द का प्रयोग करते हुए कहते हैं कि व्यन्तरों की जघन्य आयु भी दस हजार वर्ष की है।

व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

परा पल्योपममधिकम्।।39।।

अर्थ– व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक है।

आचार्य व्यन्तरों की परा अर्थात् उत्कृष्ट आयु बताते हुए कहते हैं–व्यन्तरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्य से कुछ अधिक होती है।

ज्योतिष्क देवों की उत्कृष्ट आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

ज्योतिष्काणां च।।40।।

अर्थ– ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु भी एक पल्य से कुछ अधिक है।

जैसा कि प्रारम्भ के सूत्रों में भवनवासी देवों के बाद वैमानिक देवों की उत्कृष्ट आयु बताई थी। व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों की आयु का वर्णन आचार्य ने पहले नहीं किया था क्योंकि आपको पहले ही बताया था आचार्य कभी भी कोई भी शब्द अधिक नहीं लिखते हैं। जो व्यन्तर देवों की उत्कृष्ट आयु है वही ज्योतिषी देवों की भी उत्कृष्ट आयु है। ज्योतिषी देवों की उत्कृष्ट आयु भी एक पल्य से कुछ अधिक होती है।

ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु के विषय में आचार्य बताते हैं–

तदष्टभागोऽपरा।।41।।

अर्थ– ज्योतिषी देवों की जघन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग प्रमाण है।

उन ज्योतिषी देवों की अपरा अर्थात् जघन्य आयु एक पल्य के आठवें भाग प्रमाण होती है।

अन्तिम सूत्र में लौकान्तिक देवों की आयु का वर्णन करते हुए आचार्य उमास्वामी लिखते हैं–

लौकान्तिकानामष्टौ सागरोपमाणि सर्वेषाम्।।42।।

अर्थ– सभी लौकान्तिक देवों की आयु आठ सागर है। इनकी आयु में जघन्य उत्कृष्ट का भेद नहीं है।

लौकान्तिक देवों का विशेष सम्मान करने के लिए अलग से इन देवों की आयु बताई जा रही है। जितने भी लौकान्तिक देव होते हैं उनकी जघन्य एवं उत्कृष्ट आयु आठ सागर की होती है। अर्थात् वहाँ जघन्य एवं उत्कृष्ट नहीं होता है। जो भी लौकान्तिक देव बनेंगे वे आठ सागरोपम की आयु वाले होंगे। इनके शरीर की ऊँचाई पाँच हाथ होती है।

इस तरह से देवों का वर्णन करने वाला यह चतुर्थ अध्याय यहीं समाप्त होता है।

इति तत्वार्थाधिगमे मोक्षशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः

।। महावीर भगवान की जय।।

।। मुनि श्री प्रणम्यसागर जी महाराज की जय।।